पण्डित भगवद्दत

स्रोत

'वेदवाणी'

का पं. भगवद्दत विशेषांक

(वर्ष 47, अंक 1, नवम्बर 1994)

वेदवाणी कार्यालय

बहालगढ़, (सोनीपत-हरयाणा) 131021

—ः ओ३म् ः—

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ४७] वयं जयेम (ऋक्) [अङ्क १

पं० भगवद्दत्त विशेषाङ्क के लेख

आद्य सम्पादक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, द्वितीय सम्पादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक

सम्पादक—विजयपाल विद्यावारिधि

कार्तिक सं० २०५१ वि०
नम्बर १९९४ ई०
दयानन्दाब्द १६९
वेद तथा सृष्टि सं० १९७२९४९०९४

वार्षिक मूल्य भारत में २५-००
„ „ विदेशों में १००-००
इस अङ्क का १५-००

वेदवाणी कार्यालय,
बहालगढ़, (सोनीपत-हरयाणा) १३१०२१

सम्पादकीय

कुछ मास पूर्व पं० चन्द्रकान्त बाली शास्त्री (दिल्ली) ने वार्त्ता प्रसङ्ग में कहा कि पं० भगवद्दत्त जी (१८९३-१९६८) भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के यथार्थ गौरव को स्थापित करने वाले प्रखर पुरुष थे, उनका आदरपूर्वक स्मरण किया जाना चाहिये। फिर उन्होंने स्वयं ही सुझाव दिया कि रामलाल कपूर ट्रस्ट की पत्रिका 'वेदवाणी' ट्रस्ट के पूर्व प्रधान पं० भगवद्दत्त जी की स्मृति में विशेषाङ्क प्रकाशित करे। मैंने पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक से उनका सुझाव निवेदन किया, उन्होंने तत्काल अनुमति दे दी और मैंने 'वेदवाणी' (वर्ष ४६ अङ्क ९) में सूचना प्रकाशित कर दी। दुर्भाग्यवश इसी बीच श्रद्धेय मीमांसक जी दिवङ्गत हो गये। केवल तीन विद्वानों का ध्यान ही पं० भगवद्दत्त जी की ओर आकृष्ट हो सका! इस अङ्क का आरम्भ उन्हीं विद्वानों के श्रद्धाञ्जलि-लेखों से किया गया है।

पं० भगवद्दत्त जी अद्‌भुत प्रतिभा और स्मृति के धनी थे, उनका पाण्डित्य अनुपम और ज्ञान अगाध था। वे आधुनिक अनुसन्धान पद्धति के निपुणतम विशेषज्ञों में गिने जाते थे। वैदिक वाङ्मय और प्राचीन भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में वे विश्व-ख्याति अर्जित कर चुके थे। उनकी लेखनी अतीव प्रखर एवं दुर्धर्ष थी। अपने सम-सामयिक विश्वविख्यात विद्वानों और शोधकर्ताओं के साथ उनका वैयक्तिक सम्पर्क था। आज उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं है, किन्तु उनका यशः-शरीर हमें सदा प्रेरित करता रहेगा कि हम सत्य की शोध एवं स्थापना के लिए सदा तत्पर रहें। यही उस महामानव के प्रति हार्दिक श्रद्धाञ्जलि है।

इस संस्मरण-विशेषाङ्क में उनकी विविध विधाओं में उत्स्फूर्त रचनाओं की बानगी प्रस्तुत की गई है। यद्यपि रचनायें प्राचीन हैं जो परिवेशान्तर में विस्फुटित हुई थीं, तथापि वे आज भी उतनी ही प्रासङ्गिक हैं। वेद, वैदिक विज्ञान, वैदिक दर्शन, भाषा, शास्त्रों की ऐतिहासिकता और प्राचीन राजनीति विषयक गम्भीर अनुसन्धानात्मक निबन्धों का संकलन प्रस्तुत अङ्क में किया गया है। अन्त में श्री पण्डित जी के प्रसिद्ध अंग्रेजी ट्रैक्ट 'Western Indologists : A Study in Motives' का हिन्दी रूपान्तर संगृहीत किया गया है। हमें आशा है, हमारे अध्ययनशील पाठकों को हमारा यह प्रयास रुचिकर होगा।

मुद्रण-पत्रकों के संशोधन का पूरा प्रयास किया गया है। फिर भी दृष्टि-दोष और यान्त्रिक त्रुटियों के कारण कुछ अशुद्धियां रह गई हैं। उन के लिए हम अपने कृपालु पाठकों से क्षमा चाहते हैं।

संशोधन

वेदवाणी (वर्ष ४६ अङ्क १२) अक्तूबर १९९४ अङ्क के पृष्ठ १३ पर छपा 'आर्यसमाज पूना १९९४ में १०५ वर्ष पूरे कर चुका है' वाक्य अशुद्ध है। उसके स्थान में शुद्ध वाक्य है—**'आर्य समाज पूना १९९४ में ७५ वर्ष पूरे कर चुका है।'** अनवधान के कारण हुई त्रुटि के लिये हमें खेद है।

—सम्पादक

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि । अथर्व० १।१।४॥

वर्ष ४७ | कार्तिक सं० २०५१ वि०, १ नवम्बर १९९४ ई० | बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) | अङ्क १

पं० भगवद्दत्त संस्मरण-विशेषांक

हे परमेश्वर ! हमें शक्ति दो

स नः शक्रश्चिदाशकद् दानवाँ अन्तराभरः ।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः ॥ ऋ० ८।३२।१२॥

शब्दार्थ—(सः) वह (शक्रः) शक्तिमान् (नः) हमें (चित्) भी (आ अशकत्) शक्तियुक्त करे, समर्थ करे, क्योंकि वह (दानवान्) दान देनेवाला (अन्तराभरः) अन्दर के अन्तस्तल को भरने वाला, अन्दर के अन्तर, छिद्र, कमी को भरने वाला है। (इन्द्रः) वह परमेश्वर अपनी (विश्वाभिः) सब (ऊतिभिः) रक्षाओं आदि से [हमें युक्त करे, समर्थ करे]।

विनय—हे शक्र परमेश्वर ! हमें भी शक्तियुक्त करो। हम अशक्त, पग-पग पर गिरनेवाले, हम असमर्थ, शक्ति याचना के लिये और कहाँ जावें ? सिवाय उन सर्वशक्तिमान इन्द्र के शक्ति प्राप्ति की आशा हम और कहां से लगावें ? ओह ! वे शक्र तो 'दानवान' हैं और 'अन्तराभर' हैं। उन परिपूर्ण परमेश्वर ने कभी किसी से कुछ लेना नहीं है, उन्होंने तो सदा सब को देना ही देना है। ऐसे दानवान होकर वे हमारे अन्तरों को, हमारे छिद्रों और कमिओं को भरने वाले हैं, हमारे अन्तस्थल को (उसके दोषों और त्रुटियों को) पूरनेवाले हैं। वे अन्दर से भरनेवाले हैं, अन्दर से

हमारे आन्तर स्थल को भरपूर कर देने वाले हैं। वे इन्द्र यदि चाहें तो हमें अपनी सब ऊतिओं से, सब रक्षाओं से, सब पालनाओं से, तृप्तिओं से हमारी सब कमियां दूर कर सकते हैं और हमें अन्दर से भरकर शक्त बना सकते हैं। हम उन्नति पथ पर चढ़ते हुए पग-पग पर अशक्ति अनुभव नहीं कर रहे हैं। इस तरह अपनी घोर अशक्ति, भारी निर्बलता को अनुभव करते हुए ही हम आज शक्ति के भिखारी हुवे हैं। और जब से हमें ज्ञान मिला है कि हमें शक्ति अन्दर से ही मिलेगी तथा हमारे आन्तर को भर सकने वाले वे शक्र प्रभु ही हैं, तब से हम उन शक्र के द्वारे आ बैठे हैं। हम आज साक्षात् देख रहे हैं कि उन शक्र के सिवाय इस संसार में और कोई शक्ति देनेवाला नहीं है, उनके सिवाय इस ससार में और कोई हमारे आन्तर को भरने वाला नहीं है। ओह! अब तो वे सर्व-शक्तिमान् शक्र ही हमें शक्ति से युक्त कर देवें, वे सर्व समर्थ इन्द्र ही हमें सामर्थ्य प्रदान कर देदें।

[वैदिक विनय से]

महान् प्राच्य विद्याविद् पं० भगवद्दत्त बी. ए.

[ले०—प्रो० भवानीलाल भारतीय, ८/४२३ नन्दनवन, जोधपुर-३४२००८]

"ढीला ढाला सूती पाजामा, बन्द या खुले गले का कोट, पंजाबी सफेद पगड़ी और कानों में प्राचीन आर्यों के जैसे स्वर्ण कुण्डल, इसी वेशभूषा में यदि आप ६८ वर्षीय (१९६१ में) अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैदिक विद्वान् पं० भगवद्दत्त को देखें तो आप कल्पना भी नहीं कर सकते कि अपनी आकृति तथा पोशाक से पंजाबी व्यापारी सा लगनेवाला यह व्यक्ति वेद, वेदांग, संस्कृत, इतिहास, भाषा शास्त्र आदि विविध विधाओं का प्रकाण्ड पण्डित हो सकता है।" ये शब्द मैंने १९६१ में दैनिक हिन्दुस्तान के 'व्यक्ति, साहित्य और समस्याएं' शीर्षक स्तम्भ के लिये पं० भगवद्दत्त का परिचय देते हुए आज से तैंतीस वर्ष पूर्व लिखे थे। उन्होंने मुझे स्वयं बताया था कि जब वे एक बार दक्षिण की काशी पूना (आज का पुणे) गये और वहां इसी पोशाक में संस्कृत की पण्डित मण्डली के समक्ष धारा प्रवाह संस्कृत सम्भाषण करने लगे तो दाक्षिणात्य पण्डितों को घोर आश्चर्य हुआ था। लेकिन विद्वान् की पहचान वस्त्रों से तो नहीं होती।

पं० भगवद्दत्त का जन्म २७ अक्टूबर १८९३ को अमृतसर नगर में लाला कुन्दनलाल तथा माता हरदेवी के यहाँ हुआ। उनके पिता मद्य विक्रेता थे (यह बात मुझे स्वयं उन्होंने बताई थी) किन्तु स्वामी दयानन्द के विचारों से प्रभावित होकर १८७८ में वे आर्यसमाज अमृतसर के सभासद बन गये। इस प्रकार पं० भगवद्दत्त जन्मना आर्यसमाजी थे। विज्ञान विषय लेकर भगवद्दत्त ने इण्टरमीजियेट किया तथा दर्शन एवं सस्कृत लेकर १९१५ में बी. ए. की परीक्षा पास की। उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य ही वेद के अध्ययन को बनाया था। स्वामी लक्ष्मणानन्द नामक एक योगी का उनके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। स्वामी लक्ष्मणानन्द ने योग की विधि ऋषि दयानन्द से सीखी थी। ध्यानयोग प्रकाश नामक उनका योग विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

डी० ए० वी० कालेज लाहौर से बी. ए. करने के पश्चात् पं० भगवद्दत्त इसी कालेज के अनुसंधान विभाग में कार्य करने लगे। छः वर्ष तक निरन्तर कार्य करने के पश्चात् मई १६२१ में उन्होंने महात्मा हंसराज की प्रेरणा से कालेज के अनुसंधान विभाग का अध्यक्ष पद सम्भाला। इस अवधि में उन्होंने विभाग के पुस्तकालय में लगभग साल हजार हस्तलिखित ग्रन्थ एकत्र किये तथा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन एवं प्रकाशन किया। इस कार्य में उन्हें पंजाब विश्वविद्यालय के डा० लक्ष्मण स्वरूप का भी सहयोग मिला। जब इसी विभाग में कार्य करने वाले पं० विश्वबन्धु से वेद विषयक कतिपय बातों पर उनका सैद्धान्तिक मतभेद हो गया और उन्होंने यह अनुभव किया कि आगे इस विभाग में रह कर कार्य करना कठिन है तो वे १ जून १६३४ को डी० ए० वी० कालेज की सेवा से मुक्त हो गये और स्वतन्त्र रूप से अध्ययन तथा अनुसंधान कार्य करने लगे। देश विभाजन के पश्चात् वे दिल्ली आ गये और पहले पटेल नगर में तथा बाद में पंजाबी बाग के अपने निजी मकान में रह कर लेखन तथा शोध के कार्यों में जीवन पर्यन्त लगे रहे। पं० भगवद्दत्त की विद्वत्ता तथा योग्यता को देख कर स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा ने ४ मार्च १६२३ को उन्हें अपना सदस्य निर्वाचित किया। उन्होंने समय-समय पर सभा को स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के सम्पादन तथा संशोधन विषयक उपयोगी सुझाव दिये। वे इस सभा की विद्वत् समिति के सदस्य भी रहे। २२ नवम्बर १६६८ को पचहत्तर वर्ष की आयु में इस महान् वेदज्ञ तथा प्राच्य विद्याविद् का निधन हो गया।

पं० भगवद्दत्त का लेखन कार्य—

जिन ग्रन्थों के कारण पं० भगवद्दत्त को अन्तरराष्ट्रीय ख्याति मिली वे हैं—'भारतवर्ष का इतिहास' (दो भाग), तथा तीन खण्डों में प्रकाशित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास'। वैदिक वाङ्मय के इतिहास का प्रथम खण्ड वेदों की विविध शाखाओं का खोज पूर्ण इतिहास प्रस्तुत करता है। द्वितीय खण्ड में वैदिक साहित्य के अन्तर्गत गिने जाने वाले ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों का विस्तृत विचार हुआ है। तृतीय खण्ड वेद भाष्यकारों से सम्बन्धित है। इसमें चारों वैदिक संहिताओं के पुराकाल से लेकर आज तक के भाष्यकारों का ऐतिहासिक विवरण दिया गया है। इस ग्रन्थ में मौलिक तथा लेखक द्वारा ही खोजी गई सामग्री एकत्र की गई है जिसके कारण यह ग्रन्थ वैदिक साहित्य के अध्येताओं के लिये अपरिहार्य हो गया है। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत सामग्री को अनेक परवर्ती लेखकों ने स्वरचित ग्रन्थों में ज्यों का त्यों उधृत कर दिया है, जब कि उन्होंने इस सामग्री के अन्वेषक प० भगवद्दत्त का आभार स्वीकार करने या उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने तक का कष्ट नहीं उठाया। वैदिक वाङ्मय के इतिहास के प्रथम खण्ड के रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित द्वितीय संस्करण की भूमिका में पं० भगवद्दत्त ने ऐसे विद्वानों का नामोल्लेख किया है जिन्होंने उनके नाम का उल्लेख किये बिना ही उनके द्वारा प्रस्तुत सामग्री को अपने ग्रन्थों में समाविष्ट कर लिया। ऐसे लेखकों में अनेक जाने माने विद्वान् हैं यथा—चतुरसेन शास्त्री (वेद और उन का साहित्य), बलदेव उपाध्याय (आचार्य सायण और माधव तथा वैदिक साहित्य और संस्कृति), डा० बटकृष्ण घोष (Collection of the Fragments of Lost Brahmans), राम गोविन्द

त्रिवेदी (वैदिक साहित्य), वासुदेव शरण अग्रवाल (India as known to Panini), रजनी-कान्त शास्त्री (वैदिक साहित्य परिशीलन), देवदत्त शास्त्री (भारतीय वाङ्मय की भूमिका) आदि।

ध्यातव्य है कि इस वैदिक वाङ्मय के इतिहास के ये तीनों खण्ड प्रथम बार क्रमश: १९८१ वि०, १९८४ वि० तथा १९८८ वि० में लाहौर से छपे थे। पं० भगवद्दत्त के दिवंगत होने के पश्चात् उनके विद्वान् पुत्र पं० सत्यश्रवा ने इन तीनों खण्डों को क्रमश: १९७८, १९७४ तथा १९७६ में प्रकाशित किया। वैदिक साहित्य विषयक उनके कुछ अन्य ग्रन्थ भी हैं। **ऋग्वेद पर व्याख्यान**—यह उनकी प्रथम मौलिक कृति है जो १९२० में दयानन्द महाविद्यालय (डी० ए० वी० कालेज) ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुई थी। इसमें ऋग्वेद शाखा है या नहीं, तथा वेद के कर्तृत्व पर गम्भीर शोधात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। **ऋग्मन्त्र व्याख्या**—यह एक अन्य वेद विषयक ग्रन्थ है जिसमें उन ऋग्वेदीय मन्त्रों की व्याख्या की गई है जिन्हें स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत तो किया है, किन्तु जो उनके ऋग्वेद भाष्य में नहीं आ सके। यह तो हम जानते हैं कि ऋग्वेद का दयानन्दीय भाष्य सातवें मण्डल के ६२वें सूक्त के दूसरे मन्त्र पर्यन्त ही है।

२०२१ वि० में पं० भगवद्दत्त का **निरुक्त भाषा भाष्य** प्रकाशित हुआ। इसकी विस्तृत भूमिका में उन्होंने उन यूरोपीय प्राच्य विद्याविदों की अच्छी खबर ली है जो अपने ईसाई पूर्वाग्रहों के कारण निरुक्त का वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर सके थे। यह आधिदैविक प्रक्रिया परक व्याख्या है। इस भूमिका में निरुक्त पर काम करने वाले काशीनाथ राजवाडे तथा सिद्धेश्वर वर्मा आदि भारतीय पण्डितों के मत की भी आलोचना की गई है जो यास्कीय निर्वचनों के वास्तविक अभिप्राय को समझने में अक्षम रहे तथा उन्हें बेहूदा (Absund) तथा असम्भव (Im probable) बताया। वेदविद्या निदर्शन का प्रकाशन १९५९ में हुआ। प्राय: यह कहा जाता है कि वेद में वैज्ञानिक सत्यों का ही विवेचन उपलब्ध होता है, किन्तु वैदिक विज्ञान का आधुनिक विज्ञान से समन्वय कैसे किया जा सकता है, इसके सम्बन्ध में कुछ उपयोगी सूत्र लेखक ने प्रस्तुत किये हैं।

पं० भगवद्दत्त ने अपने लाहौर (डी० ए० वी० कालेज में काम करते समय) के कार्य काल में कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण वैदिक ग्रन्थों का भी सम्पादन किया। यथा—**अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका**—इसे अथर्ववेद का लक्षण ग्रन्थ कहा गया है। इसमें अथर्व मन्त्रों के क्रम, विभाजन तथा पाठ विषयक मूल्यवान सामग्री का संग्रह है। इसका प्रकाशन भी १९२० में हुआ। अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा (१९७८ वि० में प्रकाशित) चारायणीय शाखा, मन्त्रार्षाध्याय, आथर्वण ज्योतिष, धनुर्वेद का इतिहास तथा आचार्य बृहस्पति के राजनीति सूत्रों की भूमिका उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण शोध कृतियां हैं। वाल्मीकीय रामायण के बाल, अयोध्या तथा अरण्य काण्डों के पश्चिमोत्तर (काश्मीरी) संस्करण का सम्पादन भी उनका एक महत्त्वपूर्ण कार्य था।

पं० भगवद्दत्त का लेखन मुख्यत: हिन्दी में ही हुआ। यों उनके दो लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अंग्रेजी में भी है। Western Indologists : A Study in Motives यद्यपि १९५४ में प्रथमबार प्रकाशित सोलह पृष्ठों की एक अल्पकाय पुस्तिका है किन्तु इसमें लेखक ने विलसन,

मैक्समूलर, वेबर, मोनियर विलियम्स, गार्वे तथा विण्टरनिट्ज आदि उन पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के वेद तथा प्राच्य अध्ययन विषयक ईसाई पूर्वाग्रहों को उजागर किया है। १९७५ में आर्यसमाज की स्थापना शताब्दी के अवसर पर इस पुस्तक को आर्यसमाज बम्बई ने पुनः प्रकाशित किया था।

Extra ordinary Scientific knowledge in Vedic works का प्रणयन पं० भगवद्दत्त ने उस समय किया जब १९६३ में दिल्ली में अन्तरराष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन का आयोजन हुआ। यह एक मौलिक निबन्ध है जिसे पण्डित जी ने उक्त सम्मेलन में प्रस्तुत किया था। आर्यसमाज दीवानलाल दिल्ली को इसके प्रकाशन का श्रेय जाता है।

इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान् पं० भगवद्दत्त

न केवल वैदिक साहित्य अपितु भारतीय इतिहास पर भी पं० भगवद्दत्त का असाधारण अधिकार था। भारत के इतिहास के जिस काल को प्रागैतिहासिक (Pre Historic) कह कर आज के इतिहासकार उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे तथा उसे प्रधानतः Mythological कह कर इतिहास की संज्ञा देने में भी संकोच करते रहे उसे व्यवस्थित करने का श्रेय पं० भगवद्दत्त को ही है। पार्जिटर नामक एक पश्चिमी विद्वान् ने पुराणों में पाये जानेवाले ऐतिहासिक तथ्यों की विस्तृत समीक्षा की थी। पार्जिटर के बाद पं० भगवद्दत्त ही एक मात्र ऐसे विद्वान् थे जिन्होंने पुराणों में आई राजाओं की वंशावलियों का परीक्षण, अध्ययन तथा विश्लेषण किया। भारतवर्ष का इतिहास तथा भारतवर्ष का बृहद् इतिहास शीर्षक उनके दोनों ग्रन्थों में उन्होंने सिद्ध किया कि इस देश का इतिहास लाखों वर्ष पुराना है। प्रायः भारत के इतिहास को गौतम बुद्ध के काल से ही आरम्भ हुआ माना जाता है, तथा सूर्य, चन्द्र, कुरु, पुरु, यदु, इक्ष्वाकु, मनु आदि प्राचीन राजाओं के नाम पर प्रचलित वंशों को काल्पनिक कह कर उपेक्षित किया जाता है। पं० भगवद्दत्त ने इस पाश्चात्य प्रवृत्ति का प्रचण्ड विरोध किया तथा भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन पर जोर दिया। यदि उन्हें इसके लिये और अधिक समय मिलता तो सम्भवतः वे एक ऐसे राष्ट्रीय इतिहास का लेखन करने में सफल होते, जिस पर प्रत्येक भारतवासी को गर्व होता।

दिल्ली में रहते समय दिल्ली विश्वविद्यालय के कैम्प कालेज में उन्होंने कुछ वर्षों तक भारतीय इतिहास तथा संस्कृति विषय पढ़ाया तथा भारतीय प्रशासन सेवा (Indian Administrative Service) के प्रशिक्षणार्थियों के समक्ष भारतीय संस्कृति पर कुछ व्याख्यान भी दिये जिनकी चर्चा तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं० नेहरू तक हुई। इन्हीं व्याख्यानों को व्यवस्थितरूप देकर उन्होंने भारतीय संस्कृति का इतिहास शीर्षक ग्रन्थ लिखा। भाषा विज्ञान पर उनकी शोध और अध्ययन नितान्त मौलिक था। 'भाषा का इतिहास' शीर्षक ग्रन्थ में उनके इन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। आधुनिक तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अन्तर्गत जब भाषा की उत्पत्ति पर विचार किया जाता है तो एतद्विषयक अनेक चित्र-विचित्र मतों का उल्लेख होता है। कोई भाषा को अनुकरण से उत्पन्न मानते हैं तो कोई अन्य पदार्थों से उत्पन्न ध्वनि से भाषा का प्रादुर्भाव मानते हैं। पं० भगवद्दत्त ने इन सबको अस्वीकार करते हुए भाषा की दैवी उत्पत्ति के मत को मान्य किया है। भाषा विज्ञान विषयक उनकी यह सारी खोज अत्यन्त क्रान्तिकारी है। इस विषय को उन्होंने वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथम खण्ड-द्वितीय संस्करण) के प्रथम तीन अध्यायों में

विवेचित किया है जो वेद और संस्कृत वाक्, योरोपीय भाषा मत परीक्षा तथा संसार की आदि भाषा संस्कृत इन शीर्षकों में समाविष्ट है। यूरोप में जन्मे भाषा विज्ञान (इसे Cumparative Philology—तुलनात्मक भाषा विज्ञान के नाम से पुकारा जाता है) के प्रस्तोताओं नें एक सर्वथा मिथ्या बात का प्रचार किया था कि संस्कृत के पहले भी एक भाषा संसार में थी जिसे उन्होंने आदिम यारोपीय भाषा का नाम ही नहीं दिया, एक मनचले विद्वान् ने तो उसकी वर्णमाला की भी कल्पना कर डाली और उसमें एक कहानी भी लिख दी। पं० भगवद्दत्त ने इन सब उपपत्तियों का खण्डन कर संस्कृत को ससार की आदिम भाषा सिद्ध किया। भाषा विज्ञान को पं० भगवद्दत्त के अवदान का विचार तो अभी होना ही है।

वेद और वैदिक साहित्य तथा भारतीय इतिहास, संस्कृति और भाषा के बारे में पं० भगवद्दत्त का कार्य जितना मूल्यवान था। स्वामी दयानन्द विषयक उनका शोध तथा अध्ययन कार्य भी कम महत्त्व का नहीं है। इनमें प्रमुख है ऋषि दयानन्द के पत्रों एवं विज्ञापनों का संग्रह और सम्पादन। किसी महापुरुष के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की जैसी यथार्थ जानकारी उसके पत्रों से मिलती है उतनी किसी अन्य से नहीं। इसी तथ्य को अनुभव कर ऋषि दयानन्द के पत्रों तथा विज्ञापनों के संग्रह और सम्पादन का कार्य उन्होंने लाहौर में रहते हुए ही किया। १९१८, १९१९ तथा १९२७ में उन्होंने इन पत्रों एवं विज्ञापनों को तीन खण्डों में प्रकाशित किया। इन पत्रों का पूर्ण संग्रह २०१२ वि० में अमृतसर से छपा। दयानन्द के जीवन तथा कृतित्व के अध्येता विद्वानों के लिये यह पत्र व्यवहार कितना महत्त्वपूर्ण है, यह कहने की बात नहीं है। दयानन्द विषयक उनका एक अन्य महत्त्वतूर्ण कार्य था स्वामीजी के स्वकथित तथा स्वलिखित आत्मचरित का सम्पादन। स्वामी दयानन्द ने १८७५ की चार अगस्त को पूना में एक व्याख्यान देकर अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया था और इसके चार पांच वर्ष पश्चात् १८७९-८० के वर्षों में उन्होंने बम्बई से प्रकाशित होने वाले थियोसोफिकल सोसाइटी के मुख पत्र 'दि थियोसोफिस्ट' के लिये अपनी आत्मकथा को तीन किस्तों में प्रकाशित कराया। यह भी उनके जीवन का अपूर्ण विवरण ही था। पं० भगवद्दत्त ने इस लिखित तथा व्याख्यान रूप में कथित जीवन वृत्तान्त का सम्पादन कर उसे रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित किया। अब तक इस आत्म वृत्तान्त के कई संस्करण छप चुके हैं।

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के सम्पादन में भी उनकी गहरी रुचि थी। आर्यसमाज के प्रख्यात प्रकाशक गोविन्दराम हासानन्द के अनुरोध से उन्होंने सत्यार्थप्रकाश का सम्पादन किया। इसमें ग्रन्थ के मूल पाठ तथा बाद के छपे संस्करणों को भली प्रकार मिलाया गया है। यह १९६३ में छपा। पण्डित जी का अंग्रेजी भाषा पर प्रबल अधिकार था। पं० गुरुदत्त की सम्पूर्ण ग्रन्थावली को उन्होंने पं० सन्तराम बी. ए. के सहयोग से अनूदित किया और राजपाल एण्ड सन्स लाहौर से १९१८ में प्रकाशित कराया। उनकी अन्तिम कृति Story of Creation शीर्षक थी जो उनके निधन के दो मास पूर्व ही प्रकाशित हुई। वे रामलाल कपूर ट्रस्ट के वर्षों तक प्रधान रहे।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने किंचित विस्तार में जाकर पं० भगवद्दत्त के सारस्वत सत्र का परिचय दिया है। संस्कृत में उपलब्ध राजनीति, अर्थशास्त्र तथा सामान्य नीति विषयक ग्रन्थों पर उनका असाधारण अधिकार था। मनुस्मृति तथा भारतीय राजनीति विषयक ग्रन्थों का उन्होंने

गम्भीर विश्लेषणात्मक अध्ययन किया था। उन्होंने एक बार इन पंक्तियों के लेखक को बताया था कि यदि कोई विद्वान् उनके पास बैठे तो वे ४००-५०० पृष्ठों की सामग्री से युक्त ऐसा ग्रन्थ लिखवा सकते हैं जो संस्कृत भाषा में पाये जाने वाले राजनीति, शासन व्यवस्था तथा अर्थ विषयक सिद्धान्तों का निचोड़ प्रस्तुत करता हो। १९५१ में जब मेरठ में आर्य महासम्मेलन हुआ तो उसकी अध्यक्षता पं० भगवद्दत्त ने ही की थी। इस विषय पर उन्होंने जो विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया वह कालान्तर में 'आर्य राजनीति के मूल तत्त्व' नाम से छपा। यह भारतीय राजनीति विषयक उनके अध्ययन एवं चिन्तन का उपोद्घात मात्र ही है। इसमें उन्होंने भारतीय राजनीति शास्त्र के प्रणेता ऐसे चौबीस आचार्यों के नाम गिनाये हैं जो ब्रह्मा से लेकर महाभारत काल के बीच के हैं। भारत काल के परवर्ती आम्भीय, चारायण, विष्णु गुप्त कौटिल्य, विष्णु शर्मा, कामन्दक तथा सोमदेव सूरि नाम के ये छः आचार्य वे हैं जिन्होंने आर्ष राजनीति का उपदेश दिया है। पं० भगवद्दत्त का विचार है कि यदि इन सभी ऋषि-मुनियों के ग्रन्थ हमें उपलब्ध होते तो हम अरस्तू और प्लैटो, मैकियाविली तथा अन्य पाश्चात्य राजनीतिविदों के ग्रन्थों को पढ़ कर कभी भी हीन भावना का अनुभव नहीं करते।

लगभग सभी समकालीन प्राच्यविद्याविदों से उनका घनिष्ट सम्बन्ध रहा। प्रो० ए० बी० कीथ उनके अन्तरंग मित्र थे। प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् प्रो० सिल्वां लेवी ने तो उन्हें फ्रांस आकर भारतीय इतिहास और संस्कृति पर भाषण देने के लिये निमन्त्रित किया था परन्तु उसी वर्ष प्रो० लेवी की मृत्यु हो जाने के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। महापण्डित राहुल साँकृत्यायन ने उनके साथ लाहौर में वर्षों तक शोध कार्य किया था। राहुल जी ने पं० भगवद्दत्त के बारे में जो संस्मरण लिखे हैं उनमें उन्होंने स्वीकार किया था कि ऐतिहासिक अनुसंधान की प्रेरणा उन्हें पं० भगवद्दत्त से ही मिली। एक और मार्मिक बात राहुल जी ने लिखी है। एक बार राहुल जी (उन दिनों उनका नाम राम उदारदास था और वे आर्यसमाज के दृढ़ अनुयायी थे) ने श्रद्धा के अतिरेक में आकर कह दिया, "मैं ऋषि दयानन्द के एक-एक वाक्य को ब्रह्म वाक्य मानता हूं," पं० भगवद्दत्त ने उस समय उन्हें टोकते हुए कहा था, "ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्या आपने ऋषि की सब बातों को सत्य की कसौटी पर कस लिया है।" डा० पाण्डुरंग वामन काणे तथा डा० कुन्दन राजा जैसे स्वदेशी संस्कृतज्ञ विद्वानों से उनकी परम आत्मीयता थी। प्राच्य विद्या सम्मेलनों में वे वर्षों तक जाते रहे।

मेरे व्यक्तिगत संस्मरण—

पं० भगवद्दत्त से प्रत्यक्ष भेंट करने के अवसर मुझे अधिक नहीं मिले। १९५१ में मैं जब प्रथम बार दिल्ली गया तो अजमेर के स्व० डा० सूर्यदेव शर्मा के साथ दीवान हाल आर्यसमाज के सत्संग में चला गया। सौभाग्य से उस दिन पं० भगवद्दत्त जी का महाभारत पर प्रवचन हो रहा था। मेरा आर्यसमाज में विधिवत् प्रवेश तो यद्यपि १९४६ में आयु के अठारहवें वर्ष में ही हो गया था, किन्तु तब तक आर्य विद्वन्मण्डली से मेरी अधिक निकटता नहीं थी। पं० भगवद्दत्त के इस प्रवचन में असाधारण आकर्षण था। उन्होंने महाभारत के आदि पर्व का उस श्लोक श्रृंखला को बड़े मधुर एवं प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जिसके प्रत्येक श्लोक का आरम्भ 'यदाश्रौषम्' से होता है। ये श्लोक अन्धे राजा धृतराष्ट्र ने संजय को कहे थे, जिनका भाव यह था कि जब मैंने

अपने पुत्रों के काले कारनामों की बातें सुनीं तभी मैंने विजय की आशा छोड़ दी थी। इसी व्याख्यान में उन्होंने महाभारत के बारे में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें बताईं तथा कहा कि वे इस आर्ष इतिहास ग्रन्थ पर महीनों तक प्रवचन कर सकते हैं।

पं० भगवद्दत्त से मेरी वैयक्तिक मुलाकात १९६१ के मई मास में हुई जब दिल्ली में नवम आर्य महासम्मेलन हुआ। इस अवसर पर आयोजित आर्य विद्वत् सम्मेलन में उनसे वार्तालाप करने का भी अवसर मिला। उस समय मेरे साथ पं० जगदीश विद्यार्थी (आज के स्वामी जगदीश्वरानन्द) भी थे। मेरे लेख प्राय: वेदवाणी तथा अन्य आर्य पत्रों में छपते थे। अत: पण्डित जी मेरे नाम से तो परिचित थे ही। उन्होंने मुझे कहा, "आप मेरे घर आइये वहाँ विस्तार से बातें होंगी। मेरी अधिकांश पुस्तकें तो लाहौर में ही रह गईं किन्तु जो थोड़ी बहुत बची हैं, उन्हें देख कर आप प्रसन्न होंगे।" मैं और पं० जगदीश विद्यार्थी उनके पटेल नगर स्थित निवास स्थान पर गये। उन्होंने अपनी पत्नी पण्डिता सत्यवती शास्त्री से मेरा परिचय कराते हुए कहा कि ये भारतीय जी राजस्थान के प्रसिद्ध आर्य विद्वान् हैं। पण्डित जी ने बताया कि उनकी पत्नी पंजाब की प्रथम महिला हैं जिन्होंने संस्कृत की शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की थी। पर्याप्त समय तक उनसे वार्तालाप होता रहा। उन्होंने मुझे अपनी पुस्तक Wesrern Indologist : A Story in Motives की एक प्रति भेंट स्वरूप दी। इसके बाद तो उनसे मेरा पत्र व्यवहार होता रहा और उसी वर्ष दैनिक हिन्दुस्तान में मैंने पण्डित जी का एक संस्मरणात्मक रेखाचित्र प्रकाशित कराया।

पं० भगवद्दत्त से मेरी दूसरी मुलाकात १९६६ में अजमेर में हुई। वे राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा की हीरक जयन्ती के समारोह पर आयोजित वेद सम्मेलन की अध्यक्षता करने आये थे। पं० उदयवीर शास्त्री भी इस समारोह में आमन्त्रित थे। ये दोनों विद्वान् स्व० पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक के अलवर गेट स्थित निवास पर ठहरे थे। मैंने इन दो तीन दिनों में पं० भगवद्दत्त तथा पं० उदयवीर शास्त्री से शास्त्रालाप कर अपूर्व आनन्द प्राप्त किया। मैं उन दिनों अपना पी. एच. डी. का शोधप्रबन्ध 'आर्यसमाज का संस्कृत भाषा और साहित्य को योगदान लिख रहा था। उस का प्रारूप तो लगभग तैयार था, जिसे मैंने पं० भगवद्दत्त तथा पं० उदयवीर को दिखाया। दोनों ने अनेक उपयोगी सुझाव दिये। वेदसम्मेलन का उद्घाटन राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द ने किया जो स्वयं वेदज्ञ थे। यह एक अच्छा संयोग रहा कि सम्पूर्णानन्द जी को एक अन्य वैदिक विद्वान् के वेद विषयक विचार सुनने का अवसर मिला। इस समारोह में आये आर्य-समाज शिवगंज के श्री भीकाराम जी (प्रसिद्ध फोटोग्राफर तथा आज भीष्मदेव वानप्रस्थी के रूप में) ने मेरा और पण्डित जी का साथ-साथ फोटो ले लिया। कैसा संयोग रहा कि जिस वर्ष मेरे शोध ग्रन्थ को प्रकाशित होना था उसी १९६८ के वर्ष में इस महान् वैदिक विद्वान् का निधन हो गया। मैंने अपने शोधग्रन्थ का समर्पण पं० भगवद्दत्त की स्मृति में करते हुए यह वाक्य लिखा "आर्यसमाज में वैदिक शोध के प्रवर्त्तक पं० भगवद्दत्त की स्मृति में"। आज पं० भगवद्दत्त के जन्म को १०१ वर्ष पूरे हुए। उनका पाञ्चभौतिक शरीर तो पञ्चभूतों में आज से छब्बीस वर्ष पूर्व ही विलीन हो गया था, किन्तु उनका यश:शरीर तब तक रहेगा, जब तक इस धराधाम पर वैदिक चर्चा होती रहेगी।

★★★

एकोत्तर-शताब्दी-वर्षपूर्ति के उपलक्ष्य में—

पण्डित भगवद्दत्त बी० ए०

[ले० — पं० चन्द्रकान्त जी बाली शास्त्री, पीतमपुरा, दिल्ली]

श्रीयुत पण्डित भगवद्दत्त बी० ए० का जन्म २० अक्टूबर १८९३ को अमृतसर में हुआ था। २० अक्टूबर १९९४ को उनके जन्म के १०१ वर्ष पूरे हो जायेंगे। इस ऐतिहासिक पावन पर्व पर पण्डित भगवद्दत्त जी के प्रति श्रद्धा-सुमन प्रस्तुत करने के लिए यह लेख पूर्णतया समर्पित है।

—आज २६ फरवरी १९९४ रविवार है।

भारत के राष्ट्रीय हिन्दू-समाज के प्रत्येक वर्ण में—यहां तक कि प्रत्येक वंश/कुल में—कभी-न-कभी दिव्यकर्मा महामानव जन्म लेते रहे हैं [भविष्य में भी ऐसे दिव्यकर्मा जन्म लेते रहेंगे—ऐसा पक्का विश्वास है]। कोई प्रदेश बाकी नहीं रहा, कोई नगर या गांव बाकी नहीं रहा, इससे भी आगे बढ़ कर सोचें—कोई परिवार बाकी नहीं रहा, कोई घर बाकी नहीं रहा **जिसे दिव्यकर्मा विचक्षण व्यक्ति ने जन्म लेकर उसे कृतार्थ न किया हो**। भारत का मानव-इतिहास ऐसे-ऐसे महा-मानवों की चरित्र गाथाओं से ओतप्रोत है। ऐसे अद्भुतकर्मा एवं दिव्यजन्मा मानवों की बृहती शृंखला में से **पण्डित भगवद्दत्त बी०** ए० का नाम स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय है ऐसे प्रतिभाशाली यशःसमृद्ध तथा विद्यावरिष्ठ महामानव को **चन्द्रकान्त बाली** का विनम्र नमस्कार !

पण्डित भगवद्दत्त बी० ए० का कर्मक्षेत्र इतिहास-जगत् रहा है; हालांकि पं० जी आर्यसमाज की अद्भुत उपलब्धि माने जाते हैं। धर्म में उनकी अभिरुचि सहज रही है। वे धर्मात्मा के रूप में अवतरित हुए, इतिहासात्मा के रूप में संसार से विदा ली। सच्ची बात कहने में थोड़ा डर लगता है; वह बात तो कहनी ही पड़ेगी। पं० जी का 'इतिहासात्मा रूप' आर्यसमाज को रुचिकर नहीं लगा। आर्यसमाज पण्डित जी को 'मञ्चकेसरी' के रूप में प्रतिष्ठित रखना चाहता था, और उन से अविराम वैदिक भाषण सुनने की उम्मीद लगाए हुए था। परन्तु प्रकृति को कुछ और ही मंजूर था। उधर ईसाई/पादरी हमारे धर्मग्रन्थों की दूषित व्याख्या कर रहे थे; उधर वही लोग योजना बद्ध तरीके से भारतीय इतिहास को भ्रष्ट कर रहे थे। ईसाई पादरियों का कुचक्र थमा नहीं है, आज भी अविराम गति से चल रहा है। पण्डित जी ने अनुभव कर लिया था—वेद व्याख्याता ईसाइयों का जवाब देने की क्षमता सैकड़ों वर्षों तक गूंजने वाली "दयानन्द-उद्घोषध्वनि" में है, परन्तु इतिहास का मोर्चा खाली पड़ा है। परिणाम स्वरूप **पं० भगवद्दत्त बी० ए० ने साहसपूर्वक इतिहास का मोर्चा संभाला, आर्यसमाज की संकल्प-सिद्धि के विपरीत पं० जी ने वेद व्याख्यान छोड़कर इतिहास-प्रवचन देने आरम्भ कर दिए**। इससे आर्यसमाज उनसे रुष्ट तो हुआ, कभी-कभार आर्य मञ्चों से पं० जी को कटु आलोचनायें भी सुननी पड़ीं; परन्तु पं० जी इससे विचलित नहीं हुए। मैं समझता हूं—**पण्डित जी की इतिहासोन्मुखता से आर्यसमाज का नाराज होना, एक अल्पीयसी हानि है, इसके विपरीत पं० जी की इतिहासपरक कर्मठता से पूरे हिन्दूराष्ट्र का जो चमत्कारपूर्ण लाभ होनेवाला है, उसका मूल्यांकन कोई कर ही नहीं सकता**। यह मेरी सोच है। दूसरों की राम जाने।

अपने स्वाध्यायकाल में पं० जी ने अपनी प्रतिभा का परिचय दे दिया था। उनकी शोध-वृत्ति को देखते हुए महात्मा हंसराज ने प० जी को पुस्तकालयाध्यक्ष तथा शोध-इन्चार्ज नियुक्त किया। बस फिर क्या था? पं० जी का स्वाध्याय धर्म चमक उठा। पढ़ा, खूब पढ़ा। बस पढ़ा ही पढ़ा। वेद पढ़े [पण्डित जी का वेद स्वाध्याय आर्यसमाज के सीमित दायरे से बाहर आकर बहुजनहिताय, बहुजन ज्ञानाय किया] ब्राह्मणग्रन्थ पढ़े, स्मृतियां पढ़ीं, उपनिषद्-आरण्यक पढ़े, गृह्य-सूत्र पढ़े, पुराण पढ़े, रामायण-महाभारत पढ़ डाली; यहां तक कि जैन-बौद्ध ग्रन्थों का मार्मिक अध्ययन किया; मैं पं० जी के स्वाधीत ग्रन्थों में काव्य, नाटक, उपन्यास [संस्कृत भाषात्मक] तथा गाथा साहित्य का उल्लेख इसलिए नहीं कर रहा, क्योंकि इन ग्रन्थों का ऐतिह्य स्पर्श बहुत सीमित है।

इस प्रसंग में एक हीनोपमा मेरे ध्यान में आई है, जो पं० जी पर सौ-सैकड़ा सरीक उतरती है। [उक्त हीनोपमा का उल्लेख करने से पहले स्वर्गस्थ पं० भगवद्दत्त जी से क्षमा मांगना मैं अपना धर्म मानता हूं] वह हीनोपमा इस प्रकार है। आकाश में उड़नशील बाज की सूक्ष्म दृष्टि में से कोई मांस का टुकड़ा भले ही ओझल रहा हो, **परन्तु सतत स्वाध्यायशील पं० जी की सूक्ष्मदृष्टि से कोई ऐतिह्य सन्दर्भ शायद ही बचा हो।** इतने सीमित समय में इतना असीम स्वाध्याय करना आम आदमी के बस की बात नहीं है। यही करिश्मा पं० जी ने कर दिखाया है। **आनेवाली पीढ़ियां शायद ही विश्वास करें! कोई ऐसा प्रतिभाशाली भी जन्म ले सकता है—जो इतने थोड़े समय में इतना गहन अध्ययन, मंथन कर सके।** यहां इतना स्मरण रखना बहुत जरूरी है कि पं० जी ने मानव-कल्पनातीत स्वाध्याय किया है; केवल स्वाध्याय ही नहीं किया, उसका मंथन भी किया है; स्वाध्याय-मंथन के प्रसंग में पदे-पदे उपलब्ध चमत्कारपूर्ण तथ्यों, सूक्तियों, सूत्रों तथा प्रमाणों को न केवल उद्धृत किया है, बल्कि उनका मूल्यांकन भी किया है।

महामना पं० भगवद्दत्त का सम्बन्ध आर्यजगत् से रहा है। पं० जी ने 'आर्यसमाज' की यथेष्ट तथा संकल्प-सिद्ध सेवा भी की है। यद्यपि आर्यजगत् में मनीषियों, कर्मठ सेवकों, विद्यावृद्धों, तपस्वियों, ज्ञानियों तथा राजनीतिज्ञों की कभी कमी नहीं रही है; भविष्य में भी उनकी कमी होनेवाली नहीं हैं; तथापि बहु-आयामी व्यक्तित्व के धनी **पण्डित भगवद्दत्त ने आर्यजगत् में जो स्थान बनाया है, उनके दिवंगमन के बाद रिक्त पड़े उस स्थान की पूर्ति करनेवाला कोई व्यक्ति प्रकाश में नहीं आया।** सच्ची बात कहूं—भगवद्दत्त जैसा दिव्य व्यक्ति धार्मिक संकीर्ण सीमाओं से बहुत ऊपर होता है। स्वाध्यायशील भगवद्दत्त जी की लेखनी से प्रसूत उनका विपुल साहित्य आर्य-समाज का ही नहीं, वरन् समूचे भारतीय समाज की अमर धरोहर बन गया है। यह अलग बात है कि—**मेरी यह अवधारणात्मक टिप्पणी** बहुत देर के बाद समाज को समझ में आएगी।

अब मैं केवल अपनी बात कहता हूं।

मैंने पं० भगवद्दत्त जी के विपुल साहित्य को बड़े मनोयोग पूर्वक तथा निष्ठापूर्वक पढ़ा है। खूब पढ़ा है। पढ़ने का यह सिलसिला खत्म नहीं हुआ है। सच्ची बात यह है कि यह प्रकृत लेखक 'यत्किञ्चित्' लिखने लगा है, उसकी पृष्ठ भूमि में भगवद्दत्त का विपुल साहित्य है। **परन्तु प्रकृत लेखक को पं० जी की रुचियों, उपलब्धियों, स्वीकृतियों तथा निष्कर्षों पर गम्भीर मतभेद भी है।**

गम्भीर मतभेद का अर्थ यह नहीं है कि श्रीयुत भगवद्दत्त जी की समस्त बौद्धिक सम्पदा निर्मूल है। गम्भीर मतभेद होने के बावजूद प्रकृत लेखक पं० जी के प्रति हार्दिक निष्ठा वशंवद है। गम्भीर मतभेद का तात्पर्य यह है कि—

१, जहां कहीं पं० जी लिखते लिखते रुक गए हैं उस अवरुद्ध लेखन-कार्य को आगे बढ़ाना वांछनीय है।

२. पं० जी की मान्यताओं में कहीं-कहीं विसंगति है। उन विसंगतियों का तर्क सम्मत संमार्जन करना इतिहास का तकाजा है।

३. पं० जी के निष्कर्ष 'संस्कार' चाहते हैं। पं० जी ने सप्तर्षि संचार को विलोमगति माना है। यह न केवल अवैज्ञानिक है, बल्कि अशास्त्रीय भी है।

४. पं० जी अनेक स्थानों पर अस्पष्ट हो गए हैं। खास तौर पर भारत-संग्राम के तिथि-निर्धारण पर। शालिवाहन-प्रसंग भी इसी खाते में दर्ज है।

इसी दायरे में [पं० जी की रुचियों, उपलब्धियों स्वीकृतियों तथा निष्कर्षों के पुनः संस्करण के बारे में] चर्चाएं विविध हैं और विस्तृत हैं। परन्तु कुछ एक 'अनुशीलन' विद्वन्मनोरंजनार्थ उपस्थित हैं—

प्रथम अनुशीलन : एक अद्भुत श्लोक का वैज्ञानिक अर्थाधान

संवत्सर-विद्या के जौहरी दिवंगत पं० भगवद्दत्त ने कालिक संदर्भों के संकलन में कहीं कोई कमी नहीं छोड़ी। जहाँ-कहीं से उन्हें जो रत्न मिला, उसे अपनी गुदड़ी में डाल ही लिया। अब समय आ गया है, पं० जी के संगृहीत हीरे-जवाहरातों का एक-एक करके उनका मूल्याँकन किया जाय। आज इसी प्रसंग में उनके संगृहीत एक अद्भुत श्लोक का काल-विज्ञान सम्मत अर्थाधान प्रस्तुत कर रहे हैं। यथा—

> **"ययाता चरघ्नात् गतवर्ष युक्ताः पापोन्नताः स्यात् शककाल संख्याः।**
> **चालुक्य-युक्ता सुनिश्चित् समेताः, श्रीवर्धमानस्य समा भवेयुः॥"**
>
> भारतवर्ष का बृहद् इतिहास [प्र० भा०] पृष्ठ १७७

इसी प्रसंग में पण्डित जी लिखते हैं : **"इस श्लोक का अर्थ अस्पष्ट है। भावी विद्वान् इस का तथ्य खोलेंगे।"** इस श्लोक के वैज्ञानिक अर्थाधान के लिए एक लम्बी प्रतीक्षा के हेतु हमारे पास अवकाश नहीं है। उक्त श्लोक का इसी वक्त और अभी लीजिए वैज्ञानिक अर्थाधान—

संस्कृत में अङ्कों के प्रतीकार्थों के लिए कतिपय संकेत निश्चित हैं। यथा—१=चन्द्रमाः, २=नेत्र, हस्त, कर, ३=अग्नि और ४=युग अथवा वेद इत्यादि।[1] इनके अतिरिक्त क्रमागत वर्णों को भी संख्याओं का प्रतीक मान लिया गया है यथा—

---

१. अब्धि-भूत-रसादीनां ज्ञेयाः संज्ञास्तु लोकतः। [वृत्तरत्नाकर]

१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म	+	+	+	+	+
य	र	ल	व	श	ष	स	ह	+	+

इस चित्र के आधार पर लम्बी-लम्बी अंक पंक्ति का संक्षिप्त विधान या समाधान किया जाता है। यही अंक-विन्यास यहां भी अपेक्षित है। इस अङ्क-विज्ञान प्रक्रिया के कतिपय नियम इस प्रकार हैं—

१. इस संख्या में केवल 'अ' को छोड़कर अन्य स्वरों का कोई मूल्य या स्थान नहीं है। 'अ' इसलिए कि व्यञ्जन अक्षरों को सार्थक रखने के लिए उसका [अ] योगदान अपेक्षित है। यथा—क्+अ=क=१; तथा म्+अ=म—५ इत्यादि।

२. इस अंक विधान में हलन्त [च्, त्, श् आदि] अक्षरों की ग्राह्यता वर्जित है।

उपर्युक्त श्लोक में अंक विधान इस प्रकार है—

[१] या—ता—च—र=य=१, त=६, च=६ तथा र=२; स्थिति इस प्रकार है—१६६२, 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार २६६१ अङ्क आविर्भूत हुए। परन्तु गम्भीर छानबीन करने पर ज्ञात हुआ कि यह संख्या अग्राह्यता की कोटि में है। फिर विचार किया—

[१-क] या—ला—च—ट=अर्थात् १६६१ की स्थिति 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुशासन में भी मजबूत है। इन्हीं अङ्कों की ग्राह्यता है।

[२] ग—त—ग=३ तथा त=६; इस विधान में 'अंकानां वामतो गतिः' चरितार्थ नहीं है। अर्थात् ३६ वर्षों की ग्राह्यता बनी रहेगी।

[३] मु—नि—चित्=म=५, न=०, चि=६; अर्थात् ६०५; 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार ६०५ वर्षों की ग्राह्यता निश्चित है।

[४] पा—प=प=१, प=१, अर्थात् ११, 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार भी ११ संख्या सुस्थिर है।

टिप्पणी—हमें इस समूचे कूटांक—विधान पर आपत्ति है। वह आपत्ति यह है कि अत्र—"**अंकानां वामतो गतिः**" का सूत्र सर्वत्र चरितार्थ नहीं है। क्रमांक [२] इस परिधि में नहीं है। यह अराजकता जैसी स्थिति है। इसका कोई समाधान भी हमारे पास नहीं है। यथास्थिति को देखते हुए उपर्युक्त श्लोक का वैज्ञानिक अर्थाधान प्रकाशित करते हैं—

अथ अर्थाधान—

उपर्युक्त श्लोक में **वर्धमान-संवत्**, **शक संवत्** तथा **चालुक्य-संवत्** को शृंखलाबद्ध रखा गया है। यह संवत्-त्रयी तो प्रत्यक्षतः हमारे सामने है, परोक्षतः 'भारत-संग्राम-संवत्' भी इस शृंखला में सन्नद्ध है। इस संवत्-त्रयी में 'शक संवत्' केन्द्रीभूत है। वर्धमान-संवत्, प्राक् शक संवत् है तथा चालुक्य-संवत् 'शक-संवत्' परवर्ती है। पहले संवत्त्रयी का चित्र देखिए—

	भारत संग्रामकाल	
परम्परागत	[३१४८ ई० पूर्व]	परोक्षतः
	—२५२६ ↓ घटाने पर	

वर्धमान संवत् ← शक संवत् → चालुक्य संवत्

१२२७ ई० पू०=६०५+[६२२ ई० पू०]+१०६४=१६८६

अथवा—

वर्धमान-संवत्	प्रा० शक संवत्	चालुक्य संवत्	ई० पूर्व/पश्चात्
००	—	—	१२२७ ई० पू०
६०५	००	—	६२२ ई० पू०
२२९१	१६८६	००	१०६४ ई० संवत्
वर्तमान १९९४ ई०			
३२२१	२६१६	९३०	१९९४ ई० संवत्

उपर्युक्त काल-चित्र तथा संवत्-सारिणी के अनुसार संवत्त्रयी का स्पष्ट विवरण इस प्रकार है:—

१. शक संवत् : हमने ९ के लगभग शक-संवत् स्थापित किए[1] हैं। इनमें सर्वाधिक प्राचीन शक संवत् वह है, जो ६२३ ई० पू० से चला आ रहा है। इस संवत् के प्रस्थापक हैं—आचार्य बाराहमिहिर। भगवान् वाराहमिहिर ने लिखा है—"षड्द्विक-पंच-द्वियुतः शककालः तस्य राज्ञश्च।" अर्थात् युधिष्ठिर-संवत् के २५२६ वर्ष व्यतीत होने पर शक संवत् चला। हम निरन्तर अनेक वर्षों से तथा यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रख्यापित करते रहे हैं कि भारत-संग्राम ३१४८ ई० पू० में घटित हुआ[2]। अतः यहीं से गणना करने पर : ३१४८—२५२६=६२२ ई० पू० का साल घटित होता है। यही प्राचीन शक-संवत् यहाँ अभिप्रेत है।

अथ मीमांसा [१]

हम पण्डित जी के प्रति विनम्र निष्ठावन्त रहे हैं। पण्डित जी ने भारत संग्राम काल को ३१३६-३७ ई० पूर्व का स्थापित किया है। हमने यहीं से गणना स्थापित करते हुए ३१३७-२५२६ =६११ ई० पू० से शक संवत् मान कर इतस्ततः शोध मार्ग ढूंढने का प्रयत्न किया। पर सफलता नहीं मिली।[3] पलटकर हमने भारत संग्राम के लिए ३१४८ ई० पू० का समय स्थिर किया और शक संवत् के लिए ६२२ ई० पू० का साल मानकर शोधकार्य आरम्भ किया। यह कालिक संशोधन पण्डित भगवद्दत्त जी की मान्यता को निरस्त करना नहीं था, बल्कि उसे अपांसुल मार्ग में ले चलने का संकल्पसिद्ध प्रयास था। इति।

---

१. वेदवाणी; वर्ष ३२, अङ्क ७, पृष्ठ १४।

२. उपर्युक्त सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए हमने एक ग्रन्थ लिखा है—"भारतयुद्धकाल-मीमांसा"।

३. कल्हणकृत कालगणना—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी; वर्ष ६८ अङ्क १-२।

उपर्युक्त श्लोक में शक-संवत् को अनावश्यक तौर पर कूट बना दिया है। श्लोकानुसार १६६१ में ३६ जमा किए : १६६१+३६=१६९७ योग हुआ। पुन: इस संख्या में ११ कम किए : १६९७—११=१६८६ वर्ष हुए। अर्थात् प्राचीन शक संवत् १६८६ में चालुक्य [विक्रमादित्य षष्ठ] ने चालुक्य-संवत् की स्थापना की। उस समय ई० संवत् १०६४ था तथा वर्धमान संवत् २२९१ था, जैसा कि हम चित्र में देख चुके हैं। इति।

२. चालुक्य-संवत् : चालुक्य-संवत् के संस्थापक चालुक्य-वंशीय विक्रमादित्य षष्ठ हैं।[1] यह सर्वविदित है। इस पर भी मतभेद का सामना करना ही होगा। प्रसिद्ध इतिहासकार मजूमदार तथा दत्त ने चालुक्य-विक्रम-संवत् का स्थापना वर्ष १०७६ ईसवी स्वीकार[2] किया है। इस प्रकार हमारी उपलब्धि : १०६४ ईसवी तथा मजूमदार की स्थापना : १०७६ ईसवी—में १२ वर्षों का अन्तर है। यदि श्लोक के अर्थाधान के अनुसार 'पापोनता' [११ वर्षों की छूट] को नजर-अन्दाज कर दिया जाय तो पटरी ठीक बैठ भी जाती है। यथा—१६९७—६२२ ई० पू०=१६७५ ईसवी सन् की बात यथार्थ हो जाती है। यथा प्रसंग इतिहास जगत् के महाविद्वान् म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी की राय भी विचारणीय है। वे लिखते हैं—ई० स० चालुक्य-विक्रम संवत् का अन्तर १०७५-७६ आता है। अर्थात् वर्तमान चालुक्य-विक्रम संवत् में १०७५-७६ मिलाने से ई० स० बनता है।[3] इस स्थिति में वैकल्पिक संगति बनी रहेगी और संशय भी कायम रहेगा कि पापोनता [११ वर्षों की छूट] को माना जाय या नहीं? दोनों पक्षों का अन्तर इस प्रकार है—

[१] १६९७—११=१६८६—६२२—१०६४ ई० में चालुक्य-संवत् की स्थापना।

अथवा

[२] १६९७—६२२=१०७६ ई० में चालुक्य संवत् की स्थापना।

इन में से एक पक्ष का चुनाव करना होगा। हमारी निर्भ्रान्त राय पहले पक्ष की तरफ है। कारण, हम भलीभान्ति पहचानते हैं कि भारतीय इतिहास में १२ वर्षों का उलट-फेर बहुत व्यापक है। उसका प्रभाव यहाँ भी है। यथा—

अथ मीमांसा [२]

यहां विवाद इस मुद्दे पर है कि चालुक्य विक्रम संवत् की स्थापना ईसवी संवत् १०६४ में हुई अथवा १०७६ ईसवी में हुई। इस पर गम्भीरता पूर्वक विश्लेषण करने से पहले म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के विचार जानना नितान्त आवश्यक है। यथा—

"येवूर गांव से मिले हुए शिलालेख में चालुक्य विक्रम वर्ष दूसरा पिंगल संवत्सर श्रावण-शुक्ला १५ रविवार चन्द्रग्रहण लिखा है। बार्हस्पत्य कालमान का पिंगल संवत्सर दक्षिणी गणना के अनुसार ९९९ था। अतएव गतशक संवत् और वर्तमान चालुक्य विक्रम संवत् के बीच का अन्तर ९९७ [९९९—२] गत विक्रम संवत् और वर्तमान चालुक्य विक्रम-संवत् का अन्तर ११३२ तथा ईसवी सन् वर्तमान चालुक्य विक्रम-संवत् का अन्तर १०७५-७६ आता है।"

—प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ १८१-८२॥

१. भारत का वृहद् इतिहास : मजूमदार; पृष्ठ २४२। २. पूर्ववत्।

३. प्राचीन लिपिमाला : श्रीयुत ओझा; पृष्ठ १८२।

यहाँ यह जान लेना निहायत जरूरी है कि शकसंवत् के दो प्रारूप हैं। एक प्रारूप उत्तर भारत में प्रचलित है और उसका आरम्भ ६६ ईसवी से माना जाता है। इससे भिन्न दूसरा प्रारूप दक्षिणभारत में प्रचलित है और उसका आरम्भ ७८ ईसवी से माना जाता है। हमने उभय शक-गणनाओं का भौगोलिक विभाजन भी सामने रखा हुआ है। (द्रष्टव्य-चित्र)

हमारी स्पष्ट अवधारणा यह है कि—म० म० ओझा जी की काल-गणना दक्षिणी-परम्परा के अनुसार यथार्थ है। परन्तु पूर्वकथित श्लोक का अर्थाधान शक-गणना की उत्तरी परम्परा का द्योतक है। इन उभय गणनाओं की विभाजक रेखा : पापोनता [११ वर्षों की छूट] का प्रावधान गत पंक्तियों में लिख आए हैं। ११ वर्षों की छूट का लाभ अथवा त्याग इतिहासकारों की इच्छा पर निर्भर करता है। इति।

हमारे सामने एक उलझन और है। माननीय ओझा जी ने जिन शिलालेखों का उल्लेख किया है, वे ईसवी सन् १०७८ अथवा १०८३ के हैं, उपर्युक्त श्लोक का रचनाकाल : वीरनिर्वाण संवत् २२९१=प्राचीन शक १६८६=चालुक्य संवत् ००=१०६४ ई० सन् है। भारतीय काल गणनाएं शून्य से आरम्भ होती हैं। चूँकि श्लोक प्रणेता तीन-तीन [दो प्रत्यक्ष एक परोक्ष] काल-गणनाओं के माध्यम से चालुक्य-विक्रम संवत् को स्थापित करता है, अतः उसकी प्राण्तता पूर्णतया विश्वसनीय है। बार्हस्पत्य कालमान में कहीं गड़बड़ है—यह शोध का विषय है।

३. **वर्धमान संवत्** : वर्तमान जैन समाज महावीर-निर्वाण-संवत् की स्थापना ५२७ ई० पूर्व से मानता है। परन्तु हमने बड़ी दृढ़ता के साथ भारतीय इतिहास में ७०० वर्षों का उलटफेर उद्घोषित किया है।[1] इस पद्धति से ५२७+७००=१२२७ ई० पू० से महावीर-निर्वाण संवत् की स्थापना उजागर होती है।

जैन शास्त्रों से ज्ञात होता है कि निर्वाण-संवत् तथा शक संवत् के मध्य ६०५ वर्षों का व्यवधान है।[2] यही व्यवधान यहां भी प्रासंगिक है। ६२२+६०५=१२२७ ई० पू० से महावीर-निर्वाण-संवत् की स्थापना संशोधित इतिहास की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

---

१. हिन्दुस्तानी पत्रिका, इलाहाबाद, १९८० का प्रथम अङ्क।

२. "अर्हन् महावीर को निर्वाण हुए ६०५ वर्ष और ५ मास बीतने पर शकराजा हुआ।"

—वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना : पृष्ठ ३१।

श्रीयुत पण्डित भगवद्दत्त जी ने उक्त अद्भुत श्लोक संगृहीत करके इतिहास-जगत् के साथ-साथ सांवत्सरिक समाज का बहुत बड़ा उपकार किया है।

—वेदवाणी : ३३/५ संवत् २०३७
[संशोधित]

अथ मीमांसा [३]

महावीर स्वामी का उक्त वीर-निर्वाण-संवत् जैन समाज को सहज स्वीकार्य नहीं होगा। प्रकृत लेखक जानता है कि जैन-समाज अपनी अस्त-व्यस्त काल-गणना में आत्मविमुग्ध है। परन्तु इतिहास जगत् के सामने राजतरङ्गिणी, वायुपुराण [इसके साथ-साथ मत्स्य पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण भी हैं], महावंश, स्कन्दपुराण के अतिरिक्त जैन-बौद्ध साहित्य भी है। जिनका मूल्याङ्कन एक साथ करना अपेक्षित है।

सबसे बड़ी बात है कि महावीर स्वामी के समकालीन महात्मा बुद्ध की समकालिकता के सन्दर्भ में उपर्युक्त सभी आप्त ग्रन्थों में मतैक्य हैं। मैं मुनि नागराज जी के इस कथन से सहमत हूं कि भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध वयोमान में ज्येष्ठ और कनिष्ठ थे। मैं समझता हूं कि इन युगपुरुषों में केवल एक पीढ़ी का अन्तराल है। जैसा कि हम निम्न अनुच्छेदों में पढ़ेंगे।

एक

वायुपुराण के अनुसार अजातशत्रु का शासनकाल ई० पूर्व १२२०-१२९६ है। राजतरंगिणी के अनुसार भगवान् बुद्ध का निधन १२१२ ई० पूर्व का है। महावंश के अनुसार अजातशत्रु तथा भगवान् बुद्ध का काल-समन्वय इस प्रकार है—

महावीर	महात्मा बुद्ध	अजातशत्रु
जन्म=१२९८ ई० पू०[१]	१२७६ ई० पू०[२]	बिम्बसार का शासन[३] ई० पू०
दीक्षा/बोधिलाभ=१२५६ ई०पू०[४]	१२५० ई० पू०[५]	ई० पू० १२२० में सत्तापरिवर्तन[६], निधन अभि.

१. जैन परम्परा से विदित होता हैं कि भगवान् ७०-७१ वर्ष जीवित रहे। सो १२२७+७१=१२९८ ई० पू० की स्थापना विचारणीय है।

२. महात्मा बुद्ध ६४ वर्ष जीवित रहे। सो १२१२—६४=१२७६ ई० पू० में महात्माबुद्ध के जन्म का अर्थ है कि वे भगवान् महावीर स्वामी से २२ अथवा २३ वर्ष कनिष्ठ थे।

३. महावीर-बुद्ध के जन्म के समय मगध की सत्ता पर महाराजा बिम्बसार शासन-रत थे।

४. महावीर स्वामी को ४२ वर्ष की वय में दीक्षा मिली—ऐसी जैन मान्यता है।

५. बौद्ध मान्यता के अनुसार २५-२६ वें वर्ष में महात्माबुद्ध को बोधिलाभ हुआ।

६. १२२० में महाराजा बिम्बसार का निधन हुआ तथा युवराज अजातशत्रु मगध-सम्राट अभिषिक्त हुआ।

परमनिर्वाण १२२७ ई० पू०[1] ... १२१२ ई० पू०[2] ... ई० पू० १२१६ में अजातशत्रु का निधन[3]

दो

हमने प्रस्ताव किया है कि महावीर स्वामी तथा महात्मा बुद्ध में दो पीढ़ियों का संभाव्य अन्तराल वर्तमान है। हमारे इस कथन का समर्थन लाडनूं [राजस्थान] से प्रकाशित 'तुलसीप्रज्ञा' के विद्वान् सम्पादक डॉ० परमेश्वर सोलंकी ने इन शब्दों में किया है -

१२५० ई० पूर्व "जैन-परम्परा में प्रद्योतपुत्र-पालक का अभिषेक और महावीर निर्वाण एक ही दिन होने का उल्लेख है और तिब्बती-परम्परा में प्रद्योत का राज्यारोहण और गौतम बुद्ध को सम्बोधि भी एक ही दिन होना मान्य है। इसलिए महावीर निर्वाण और बुद्ध निर्वाण में २३ वर्षों का अन्तर सही हो सकता है। १२२७ ई० पूर्व

तुलसीप्रज्ञा, खण्ड १० अङ्क ३, पृष्ठ १५१. इति

काश !

प्रखर प्रतिभाशाली पं० भगवद्दत्त जी जिस अद्भुत श्लोक को ढूंढ कर लाए थे, यदि उसके रहस्योद्घाटन में सफल हो जाते तो "भारतवर्ष का बृहद् इतिहास" [उभय भाग] की रूपरेखा और उपयोगिता कुछ और ही होती। हम इस प्रसङ्ग में भगवान् भगवद्दत्त के सत्प्रयासों को इस रूप में ग्रहण करते हैं कि भारत का इतिहास भारतीय प्रतिभा द्वारा भारतीय सूत्रों तथा सन्दर्भों के आधार पर लिखा जाना ही श्रेयस्कर है। ईसाई/यहूदी प्रतिभा ने भारतीय इतिहास को लिखने से पहले भारत की प्रतिभा को कुण्ठित करना जरूरी समझा और ऐसा किया भी। राजनीतिक लड़ाई में भगवान् गोखले, भगवान् तिलक तथा महात्मा गांधी का नाम जिस तौर तरीके से लिखा जायेगा; उसके बिल्कुल सामने ऐतिह्य पुनर्जागरण के संघर्ष में भगवान् भगवद्दत्त का नाम ही लिखा जाएगा। इनके कर्मक्षेत्र अलग-अलग हैं; परन्तु इनके प्रयास, उद्देश्य और संकल्प सब के सब अभिन्न है।

[क्रमशः]

---

१. जैन मतानुसार शक संवत् से ६०५ वर्ष प्राक् महावीर स्वामी हुए। परन्तु उपस्थित श्लोक के अनुसार समन्वय वहीं का वहीं है। परन्तु शक संवत् ई० सन् ७८ न होकर, ६२२ ई० पूर्व का ग्राह्य सिद्ध हुआ है।

२. महावंश में लिखा है—"अट्ठमे वस्से परिनिब्बुत्तो"। अर्थात् अजातशत्रु को शासन करते-करते ८ वर्ष ही बीते थे कि महात्मा बुद्ध का परमनिर्वाण हुआ था। सो १२२०—८=१२१२ ई० पू० का काल यथार्थ है।

३. महावंश में यह भी लिखा है—"रज्जं सोलसवस्सानि कारेसि" अर्थात् बुद्धनिर्वाण पश्चात् अजातशत्रु ने १६ वर्ष राज्य किया। सो १२१२—१६=११९६ ई० पू० तक उसने शासन किया। ११९५ ई० पू० अजातशत्रु का भाई दर्शक गद्दी पर बैठा—ऐसी पौराणिक मान्यता है।

महापण्डित भगवद्दत्त : एक सजीव संस्था

[ले०—डा० सत्यकाम वर्मा, ३१३, दीपाली, पीतमपुरा, दिल्ली-३४]

प्रारम्भिक :—

मुझे वह दिन भूलता नहीं। तब गुरुकुल कांगड़ी के आयुर्वेद महाविद्यालय में द्वितीय वर्ष का छात्र था। ग्रीष्मावकाश के दिनों में सोलन आया हुआ था। अपने पिताजी के साथ ही उनके औषधालय में बैठ कर अध्ययन करता रहता था। उस दिन दोपहर के समय अचानक एक भव्य, ओजस्वी एवं विशालकाय मूर्ति ने वहां प्रवेश किया। साँवले से वर्ण के उस तेजस्वी व्यक्तित्व के हाथ जुड़े हुए थे और चेहरे पर मुस्कुराहट नाच रही थी। उसकी आंखें विशाल और भाल उन्नत एवं चौड़ा था। डीलडौल में विशाल होने पर भी, हाथों में एक सोटी पकड़े हुए वह व्यक्तित्व अत्यधिक गुरु गम्भीर और प्रभावशाली लग रहा था। 'नमस्ते वैद्य जी !' कहते समय एक भारी और गम्भीर गर्जना सी करती वाणी ने मेरा ध्यान बलात् अपनी ओर खींच लिया। लगा कि वाणी पर नियन्त्रण रखने वाला यह व्यक्ति वीणावादिनी सरस्वती का भी अधिकारी पुत्र है। बाद में बातचीत में पता चला कि हम जिसे पण्डित भगवद्दत्त 'वैदिक रिसर्चस्कॉलर' के नाम से भारतीय विद्या और इतिहास के धुरन्धर विद्वान् के रूप में जानते हैं, वही विश्व-विख्यात पण्डित लगभग प्रतिवर्ष ही सोलन की भूमि को न केवल अपनी उपस्थिति से पवित्र करने आये हैं, बल्कि यहां की आर्यसमाज में महीने भर से भी अधिक समय तक लगातार 'महाभारत' की कथा भी करते हैं। लाहौर से ही पिताजी को वे अपना मित्र मानते रहे थे। मेरी छोटी बहिन भी उनके 'महिला महाविद्यालय' की छात्रा रही थी।

अध्यापक और गुरु रूप में :—

भारत विभाजन के बाद मेरे भाग्य में बहुत दिनों तक उनके दर्शन नहीं लिखे थे। पिताजी मुझे सोलन का कार्य देकर स्वयं दिल्ली, बम्बई आदि आने-जाने लगे। उनकी मुलाकात पण्डितजी से दिल्ली में होती रहती थी। मैं भी इन्दौर के राजकुमारसिंह आयुर्वैदिक महाविद्यालय से अवकाश पर दिल्ली आया था। यहां गुरुकुलीय शिक्षा के चमत्कार के कारण मुझे स्नातकोत्तर हिन्दी और संस्कृत कक्षाओं का अध्यापन कार्य मिल गया। १९५६ में पंजाब की शास्त्री परीक्षा में आश्चर्यजनक परिणाम आने के बाद अचानक ही एक दिन मुझे पण्डित जी का सन्देश तुरन्त मिलने के लिए मिला। उनके चरणों में झुकते ही आशीर्वाद के बाद पहला प्रश्न था—एम० ए० संस्कृत में प्रवेश क्यों नहीं लेते ?' मैंने आजीविका के समय के साथ महाविद्यालय के समय की टक्कर और प्रवेश समय की समाप्ति की बात कही। बोले, 'वह सब मुझ पर छोड़ दो। तुम आज ही जाकर प्रवेशपत्र भर दो, प्रवेश के बाद पता चला कि स्वयं पण्डित जी भी वहां अध्यापन करते हैं, और पंजाब विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य भी हैं।

पण्डित जी की कृपा से मुझे उपस्थिति से छुट्टी मिल गई थी। कभी-कभी ही जाना होता था। एक दिन कक्षा में प्रवेश करने पर पण्डित जी को भाषाविज्ञान पढ़ाते पाया। मैं स्वयं भी एम.

ए. के छात्रों को भाषाविज्ञान पढ़ाता था। न जाने कैसे मुझसे एक उद्दण्डता हो गई। पण्डित जी ने एक उद्धरण दिया और पूछा कि 'समझ में आया ?' मैंने उस उद्धरण में एक छोटी सी त्रुटि की ओर इङ्गित किया। पहले तो वे आश्चर्यचकित रह गए। पहली बार उनके ही पुत्रतुल्य छात्र ने यह दुस्साहस किया था। अतः प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। किन्तु कक्षा से बाहर आने पर देखा कि पण्डित जी मुझे ही ढूंढ रहे थे। बोले, 'अन्दर कही बात का बुरा तो नहीं लगा ?' फिर स्वयं ही बोले, 'कल सुबह घर आ जाओ। मुझे वह प्रसङ्ग भी दिखा देना।' अगले दिन वह प्रसङ्ग देखते ही बोल उठे, 'कोई और त्रुटि तो नहीं पाई उस पुस्तक में ?' मैंने दो भाषावैज्ञानिक अशुद्धियों की ओर ध्यान खींचा, तो अपने समीप ही बैठे अपने प्रियपात्र महाबैयाकरण पण्डित से बोले, 'यह ठीक है क्या ?' उनके हामी भरने पर तुरन्त बोले, 'पण्डित जी इन त्रुटियों को तुरन्त ठीक कर लीजिए, कहीं नये संस्करण में भी यह गलती न रह जाए।' कहां हैं आज ऐसे पण्डित जो हर क्षण सत्य को ग्रहण करने के लिए उद्यत रहते हों। पर वे तो सच्चे सत्यान्वेषी थे। अपनी इसी सत्यप्रियता के कारण बहुत कष्ट सहे। पर मनस्वी कभी झुकते नहीं।

शोध का आरम्भ और तदर्थ समर्पण :—

बी० ए० परीक्षा संस्कृत विषय के साथ उत्तीर्ण करते ही उनकी जिज्ञासा संस्कृत और भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी हो गई। आर्यसमाज के सम्पर्क के कारण स्वामी दयानन्द और वेदों के प्रति तो उनकी आस्था अडिग थी ही। उनकी प्रतिभा को देखते हुए डी० ए० वी० कालेज के तत्कालीन प्राचार्य महात्मा हंसराजजी ने उन्हें अपने यहां के पुस्तकालय और अनुसन्धानविभाग का भार सौंप दिया। उनकी अध्यक्षता में यह पुस्तकालय और इसका अनुसन्धान विभाग शीघ्र ही देश और विदेश के भारतीय विद्या के प्रेमियों के लिए आकर्षण एवं जिज्ञासा का विषय बन गया। कारण था पण्डित भगवद्दत्त की खोजी वृत्ति। देश भर के कोने-कोने से उन्होंने अनेकानेक संस्कृत और वैदिक साहित्य की अत्यन्त दुर्लभ पाण्डुलिपियों को खोज निकाला और उनका संग्रह किया। ऋषि दयानन्द के पत्रव्यवहार, उनके भाषणों का संग्रह, उनकी पुस्तकों के सभी संस्करण, उनके नाना विज्ञापनों का संग्रह आदि अनेक कार्य आजीवन उनकी याद दिलाते रहेंगे। उनके उस विशाल संग्रह और उनकी अनुसन्धान प्रवृत्ति का ही प्रभाव था कि बाद में आचार्य विश्वश्रवा व्यास के नाम से प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् एक सामान्य सेवक के पद से इतने ऊंचे उठ गए। महावैयाकरण युधिष्ठिर मीमांसक भी उनके सान्निध्य में आने के बाद शोधप्रवृत्ति के विद्वान् बन गए। बाद में तो वे उनके शोधप्रयासों के वास्तविक उत्तराधिकारी ही बन गए।

भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् : अनूठी संस्था—

समय आने पर उन्हें बड़े दुःख के साथ डी० ए० वी० को छोड़ना पड़ा। सिद्धान्त का प्रेमी अपने सिद्धान्तों से समझौता न कर सका। परन्तु अब तक अनुसन्धान उनके प्राणों में समा चुका था। सौभाग्य से उन्हें सहधर्मिणी भी संस्कृत की महाविदुषी और पति के लक्ष्य के प्रति समर्पित मिली थी। आजीविका के लिए लाहौर में हिन्दी-संस्कृत के अध्ययन केन्द्र के रूप में महिला महा-विद्यालय की स्थापना की। साथ ही अपने अब तक के गम्भीर अध्ययन और शोध-प्रयासों को

विद्वज्जगत् तक पहुंचाने के लिए उन्होंने अकेले अपने ही बल पर भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् की स्थापना की और सच्चे अर्थों में तन-मन-धन से प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनराकलन के कार्य में जुट गए। स्वामी दयानन्द सम्बन्धी साहित्य के संग्रह और सम्पादन के अतिरिक्त जो अमर कृतियाँ उन्होंने प्राच्यविद्याप्रेमियों को प्रदान कीं, उनमें 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास', 'भारतवर्ष का बृहत् इतिहास', आदि अनेक ग्रन्थ समाविष्ट हैं। अपने दामाद कविराज सूरमचन्द्र जी के साथ मिलकर उन्होंने आयुर्वेद का इतिहास भी प्रथम बार लिखा। दिल्ली आने पर उन्होंने 'भाषा का इतिहास' नाम से एक लघुकाय ग्रन्थ लिखा, जो गागर में सागर के समान सिद्ध हुआ। उसमें अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण ढंग से उन्होंने इस क्षेत्र में पश्चिम के तथाकथित भाषावैज्ञानिकों द्वारा स्थापित मान्यताओं का न केवल खण्डन किया, बल्कि इस सम्बन्ध में भारतीय पक्ष भी उपस्थापित किया। यह माना जा सकता है कि उसमें शब्दसाम्य के विषय में कुछ मान्यताए ऐसी भी थीं, जो सर्वग्राह्य नहीं थीं। किन्तु उसमें अनेकानेक ऐसे भी तथ्य थे, जो तुलनात्मक दृष्टि से बहुत उपयोगी माने जा सकते थे। उन्होंने प्रथम बार यास्क, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषदादि एवं पाणिनीय व्याकरण का सहारा लेकर समानान्तर मतों को उपस्थापित किया।

पाश्चात्य मतों का खण्डन—

उनके द्वारा पाश्चात्य मतों के खण्डन में स्वामी दयानन्द से भी अधिक उग्रता देखकर, उसका कारण जानने की उत्सुकता होना स्वाभाविक ही है। हमें इसका रहस्य तब पता चला, जब एक दिन अचानक ही दिवंगत प्रो० साधुराम जी एक दिन पण्डित जी द्वारा लिखित वैस्टर्न इण्डोलौजिस्ट्स' नाम की एक लघुतम पुस्तिका मुझे अवलोकनार्थ दे गए। वे मेरे पण्डित जी के मतों के प्रति झुकाव को अच्छी तरह जानते थे। उस अत्यन्त प्रामाणिक पुस्तिका के अवलोकन के बाद यह रहस्य समझ में आया कि क्यों पण्डित जी स्वामी दयानन्द से भी बढ़कर पाश्चात्य मतों के उग्र विरोधी थे। उदाहरणार्थ, स्वामी जी प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर को वेदों का पण्डित मान कर उन्हें उनकी त्रुटियाँ समझाने का प्रयास करते थे। किन्तु यदि उन्हें उस दस्तावेज का पता होता, जिसे बोडन महोदय ने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को 'बोडन चेयर फार इण्डियन स्टडीज' की स्थापना करते हुए अनुबन्धपत्र के रूप में निबद्ध किया था, तो वे यह जान पाते कि इस पीठ की स्थापना हुई ही ईसाई मत के प्रचार और भारतीय संस्कृति को नीचा दिखाने के लिए थी। तब वे मैक्समूलर के वास्तविक अभिप्राय को समझ पाते और परिणामतः उनका विरोध और अधिक उग्र होता। इस छोटी सी पुस्तिका में पण्डित जी ने अन्य पाश्चात्य लेखकों की प्रगट या छिपी भावनाओं को भी ठोस प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट किया है। इसीलिए हमने कहा कि यह पुस्तिका अत्यन्त लघ्वी होते हुए भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

पण्डित जी की ऐतिहासिक दृष्टि :

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के गहन अध्येता होने के कारण आरम्भ से ही पण्डित जी यह तो जान ही चुके कि पाश्चात्य लेखकों ने भारतीय इतिहास को बहुत कुछ अपने अज्ञान के कारण और अधिकांशतः जान बूझ कर अपने भारत-विरोध के कारण, अत्यधिक संकुचित एवं भ्रामक तथ्यों से तोड़-मोड़ कर लिखा है। स्वामी जी ने अपने स्वल्प जीवनकाल में इतिहास के सही कालनिर्णय

को अकाट्य प्रमाणों के आधार पर उपस्थापित करने का प्रयास किया था। पण्डित जी के लिए आधारबिन्दु बना 'महाभारत का काल निर्णय' और श्रीकृष्ण का मृत्यु दिवस ! यहीं उन्हें द्वापर और कलियुग के प्रसंग में पूरी चतुर्युगी एवं उसके प्रवर्तनक्रम को समझाना आवश्यक प्रतीत हुआ। तभी उन्हें यह भी लगा कि जब तक चारों वेदों और तदाश्रित साहित्य के साथ इतिहास-पुराण नाम से विख्यात पंचम वेद का भी अनुशीलन न किया जाए, तब तक भारत के प्राचीन इतिहास को पूरी तरह समझा न जा सकेगा। इसीलिए रामायण और महाभारत के गहन अनुशीलन के साथ-साथ पुराणों और कल्हण की राजतरंगिणी आदि ग्रन्थों का गहन अनुशीलन भी उन्होंने किया। इसके लिए उन्हें यदा कदा अन्य पण्डितों से भी सहायता लेने में झिझक नहीं होती थी। परिणाम यह कि प्राचीन भारतीय साहित्य के पुनर्मूल्यांकन में उन्होंने एक ऐसे तिथिक्रम को प्रस्तुत किया, जिसे तथाकथित इतिहासज्ञों ने उपहास की दृष्टि से देखा, किन्तु आज का पुरातत्वाश्रित अध्ययन जिसे पूर्णत: प्रामाणिक सिद्ध करता है। आज ब्रिटेन में जो प्राचीन ऐतिहासिक दस्तावेज शोधार्थियों के लिए मुक्त कर दिये गए हैं, उनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भारतीय इतिहास, साहित्य, धर्म. भाषा और कला को अत्यन्त तुच्छता की दृष्टि से दिखाना उस समय की साम्राज्यवादी नीति का एक अविभाज्य अंग था, जो आज तक भी चला आ रहा है। इसीलिए बाइबिल और यूरोपीय साम्राज्य साथ-साथ ही सफर करते रहे; ठीक वैसे ही जैसे मध्ययुग में इस्लाम और तलवार ने साथ-साथ किया था। सबसे बड़ा ऐतिहासिक अपराध यह सामने आया कि इतिहास लेखन में स्थानीय परम्पराओं का जो महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, उसे भारतीय इतिहास लिखने वाले पाश्चात्य लोगों ने सर्वथा उपेक्षित किया था। तिथिहीन एवं विस्मृतप्राय अतीत के इतिहास को ही 'पुराण' कहते हैं, जिनकी तब तक सर्वथा उपेक्षा की गई थी। पण्डित जी ने उन्हें यथोचित मान दिया और उसका पूरा लाभ उठाया।

जब स्वामी जी ने सर्वप्रथम आर्यों को भारत का ही मूल निवासी कहा था, और बाद में तिलक और याकोबी जैसे विद्वानों ने वेदों का काल लगभग आठ सहस्र ईस्वी पूर्व निश्चित किया था, तब यूरोपीय विद्वानों ने उनका उपहास किया था। बाद में इन प्रामाणिक मतों का उपहास करने के लिए उन्होंने प्रागैतिहासिक, पुरातत्वीय और भाषा वैज्ञानिक तथ्यों को अपने पक्ष के पोषण के लिए घुमाफिराकर प्रस्तुत करना आरम्भ किया। अधिकांशत: ऐसे प्रयास सोद्देश्य किये गए। इस पर भी कुछ विद्वान् ऐसे थे, जिन्होंने उस अन्धकार में से प्रकाश की हल्की सी किरण खोजने का प्रयास किया। तथाकथित सिन्धु घाटी की सभ्यता का उदाहरण ऐसा ही है।

सिन्धु या नागर सभ्यता—

सर्वप्रथम इसे आर्यसभ्यता से सम्बद्ध बताया गया, किन्तु साम्राज्यवादी प्रशासकों ने उसे आर्य-द्रविड झगड़े को उकसाने का एक प्रमुख माध्यम बना लिया। परिणाम यह कि सर मौर्टिमर व्हीलर जैसे लोगों ने उसे द्रविड सभ्यता के अवशेष घोषित करके आर्यों द्वारा बाहर से भारतप्रवेश की धारणा को जन्म दिया और वैदिक प्रमाण अशुद्ध ढंग से प्रस्तुत करके उसे आर्यों द्वारा त्रिपुर-दाह जैसी संभावना से सम्बद्ध कर दिया और इन्द्र के पुरन्दर नाम का अर्थ कर दिया 'नगरों का

विनाश करने वाला'। यह सौभाग्य की बात है कि अब लिपि विस्तार, संरचना और अनेक आधारों पर यह सिद्ध हो चुका है कि परवर्ती भारतीय सभ्यता इन पुरानी सभ्यता का विस्तार थी। यद्यपि अब भी बाह्य साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रचार की भूमिका से अनभिज्ञ पाश्चात्य के पिछलग्गू भारतीय तथाकथित इतिहास आज तक उसी पुरानी धारणा को दोहरा कर आर्यों को भारत के बाहर से ही आया हुआ सिद्ध कर रहे हैं।

परन्तु भगवद्दत्त जी के प्रमाण बहरे कानों पर नहीं गिरे थे। आखिर बहुत से भारतीय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय इतिहास की प्रामाणिकता और आर्यों के भारत का ही मूल निवासी होने की बात को सिद्ध करने का प्रयास किया। और आज तो यह धारा बल पकड़ गई है। अनेकानेक पुस्तकें अब प्रकाश में आने लगी हैं।

आर्य परिवार—

भारत और आर्यों के आगमन की समस्या के सुलझाने के प्रयास के बाद भी बहुत कुछ पण्डित जी के प्रयासों में ऐसा है, जिस पर अभी विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। अब भी पाश्चात्य और उसके अनुयायी विद्वान् यह प्रश्न करते हैं कि यदि आर्य भारत के मूल निवासी थे, तो जिसे 'आर्यन रेस' या आर्यजाति कहते हैं, जिसका विस्तार भारत से यूरोप तक पाया जाता है और जिसकी मूल भाषा कभी एक ही रही सिद्ध की जाती है, वह कहाँ से फैली? इस प्रश्न का उत्तर न पाकर ही वे कहते हैं कि भाषावैज्ञानिक प्रमाण बताते हैं कि आर्य पश्चिम से ही भारत में आए, क्योंकि उस मूल परिवार की अनेकानेक भाषायें या भाषापरिवार अब भी पश्चिम में ही बसे हुए हैं। भारतीय विद्वान् इसका उत्तर यह कह कर देते हैं कि भारत से बहुत आरम्भ से ही व्यापार या नए प्रदेशों की खोज में पश्चिम की ओर जाने वाले लोग वेदानुयायी होने के कारण स्वयं को आर्य कहते थे। वे ही विभिन्न प्रदेशों में बसते गए और उनकी भाषा में कुछ-कुछ विकृति घर करती गई। किन्तु पण्डित जी के गहन अध्ययन ने एक नया ही परिणाम सामने प्रस्तुत किया। वह यह कि आर्यों के आठ परिवारों या वर्गों की प्राचीन इतिहासपुराण के ग्रन्थों में चर्चा है, और उनके एक दूसरे से विलगाव और बिखराव की भी एक कहानी है। देवासुर संग्राम तो उसका महज एक हिस्सामात्र है। दैत्य, दानव, असुर, देव, गन्धर्व आदि उसी बृहत् परिवार के अङ्ग हैं। स्वामी दयानन्द ने मय दानव और उलूपी को अमरीका की बताया था। पण्डित जी ने दैत्य, दानव, असुर आदि की भूमियों को भी पहचाना। उन्होंने ऐसा सप्रमाण कहा, पाश्चात्यविरोध के कारण नहीं।

आठ परिवार—

आर्यों के इन आठ वर्गों की भांति बाइबिल में भी आठ खोई हुई जातियों की चर्चा आती है, जिनकी खोज में कहा जाता है कि ईसा भारत भी आए थे। परन्तु पण्डित जी को पौराणिक और वैदिक प्रमाणों में समता के सूत्र मिले। पौराणिक इतिवृत्त में देवासुरसंग्राम की चर्चा के प्रसंग में कहा गया है कि देव और असुर भाई-भाई थे। समुद्रमन्थन के संयुक्त प्रयास में सोम या अमृत के सामने आते ही असुर उसे ले भागे और पर्वतों में जा छिपे। तब विष्णु को अपनी मोहिनी शक्ति का प्रयोग करके उस सोम को वापिस लाना पड़ा। वेदों में यही चर्चा इन्द्र और वृत्र के प्रसङ्ग में

आई है। इन्द्र के विरोधी हैं वृत्र और अहि। वैदिक दृष्टि से ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। दोनों ही असुराधिपति के लिए प्रयुक्त होते हैं, जो सोम को लेकर त्रिकद्रुक पर्वतों में जा छिपा था। उसे इन्द्र ने मार कर सोम और अवरुद्ध नदियों को मुक्त कराया। इन में से वृत्र तो पारस का प्राचीन देवता माना गया है, जिसका विरोधी इन्द्र है। और अहि चीन का देवता है, जो सदा यज्ञाग्नि को उगलता है। ये तीनों ही अपने स्वरूप में यज्ञ के अधिपति हैं। परन्तु वैदिक धारणा में वृत्र को आवरक स्वभाव का माना गया है, जबकि वृत्र के उपासक उसे अवरोधक मानते हैं। इस प्रकार ईरान या पारस देवों के बड़े भाई असुरों की भूमि थी, त्रिकद्रुक पर्वतसमूह भारत की सीमा में था, जहां ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु और महेश जैसे देवों का राज्य था। चीन को भी प्राचीन उल्लेखों में देवभूमि के रूप में ही मानते थे। सम्भवत: इसीलिए कनिष्क को देवपुत्र विरुद दिया जाता था।

पण्डित जी ने इसी कल्पना को और आगे बढ़ाया और दैत्यों से डच और डॉयच् का तथा डेन और डैन्यूब से दानवों का सम्बन्ध जोड़ बैठे। पुराने समय से ही मय दानव और उलूपी आदि नागों का सम्बन्ध पाताल से माना जाता रहा है। आज भी मयों का प्रदेश अमरीकी महाद्वीप में ही है। सम्भव है अमरीका के ही प्राचीन निवासियों में एक वर्ग नागोपासक भी रहा हो और नाग कहलाता हो। और यह बात इस सीमा तक सच भी है कि वहां के तथाकथित रैड इण्डियन्स के कुछ वर्ग स्वयं को किसी अत्यन्त समृद्ध बाहरी देश से आया हुआ ही मानते हैं। अतः पण्डित जी की कल्पना सत्य से अधिक दूर नहीं कही जा सकती।

महाभारत और सिन्धु सभ्यता

हम कह चुके हैं कि पण्डित जी महाभारत के महान् पण्डित थे। उन्हें सम्पूर्ण महाभारत लगभग कण्ठस्थ था। ग्रीष्मावकाश के दिनों में कथा के बहाने वे महाभारत को दोहरा लेते थे। उसी महाभारत के अन्तिम मौसल पर्व के अन्तिम अध्यायों में श्रीकृष्ण के अन्तिम दिनों की चर्चा है। यह स्मर्तव्य है कि श्रीकृष्ण के जीवन विसर्जन करते ही महाभारत भी समाप्त हो जाती है। महाभारत युद्ध की समाप्ति पर श्रीकृष्ण के नेतृत्व में अन्धकवृष्टिसंघ के निवासियों ने अत्यधिक समृद्धि प्राप्त की। युद्धसमाप्ति के लगभग छत्तीस वर्ष बाद उस समृद्धि ने उन्हें आपसी उपद्रवों और गृहकलह में उलझा दिया। उसी समय श्रीकृष्ण को लगा कि अब द्वारिका का अन्त होने ही वाला है। उन्हें पता था कि एक भयङ्कर जलप्लावन आने वाला है, जिसमें सम्पूर्ण द्वारिका और राज्य का बहुत सा भाग--लगभग रैवतक पर्वत पर्यन्त-जलमग्न हो जायेगा। अतः उन्होंने सम्पूर्ण गणपति समुदाय को बुलाकर तीन बातें कहीं—

(अ) एक महान् उत्सव और आपानक का आयोजन किया जाए, जिसमें सभी नागरिक मौज मस्ती मनायें।

(इ) सारे युवक अपनी-अपनी विशाल नावों पर सवार होकर समुद्र में दूर तक यात्रा के लिए निकल जायें। और

(उ) आबाल वृद्ध महिलामण्डल को बलराम के साथ रैवतक पर्वत पर भेज दिया जाए। यादव आदि प्रजामुख्यों के समुद्र में महाप्रस्थान करते ही उन्होंने बलराम को बुलाकर और रहस्य समझाकर कहा कि वे अर्जुन को संदेश भेज दें कि वह आकर इन सब यादव और आभीरादि को को यहां से अपने राज्य में ले जाए और स्वयं अपना अन्त समय निकट बताकर वन में जाने की बात बताई। यह भी कहा कि अब द्वारिका का अन्त होने में सप्ताहमात्र ही शेष है। इतना कहने के बाद वे वन में अपने अन्तकाल के स्वागत के लिए चले गए, जहां काल ने नाग का रूप धारण करके उनके प्राण हर लिए।

महाभारत के साक्ष्य के अनुसार यही क्षण द्वापर के अन्त का और कलि के आरम्भ का था। इसी क्षण द्वारिका एक विशाल जलप्लावन में समुद्र के गर्भ में समा गई थी। पण्डित जी ने इस क्षण और युगपरिवर्तन के महत्व को समझा और उससे कुछ परिणाम निकाले—

१. यह जलप्लावन केवल द्वारिका को ही नहीं, सम्पूर्ण पश्चिम तटवर्ती प्रदेशों को बहुत दूर तक उजाड़ गया था।

२. इस जलप्लावन के आसपास ही कई अन्य दैवीय उत्पात भी अपनी विकराल विनाश-लीला फैलाने में सफल हुए होंगे।

३. इसी समय बहुत से नगर धराशायी हुए होंगे।

अब क्योंकि यह काल ३१२० ईस्वी पूर्व के आसपास बैठता है और लगभग यही समय उस समय प्रकाश में आई सिन्धु या नागर सभ्यता का भी है, अतः महाभारतकाल की द्वारिका का अन्त ३१२० ई० पूर्व के समकाल हुआ। पण्डित जी का कहना था कि यह विशाल जलप्लावन केवल द्वारिका में ही न आकर सम्पूर्ण पश्चिमी तट पर आया होगा। इसीलिए पश्चिम तटवर्ती अनेक विशाल नगर उस समय ध्वस्त हो गए होंगे। अब क्योंकि ऐसा जलप्लावन अकेला नहीं आता; वह भी किसी व्यापक दैवीय इति या विनाश का ही एक अङ्ग होता है, अतः उस समय भी भूकम्प जैसी कोई विकराल घटना घटी होगी।

यहाँ यह अवधेय है कि पाश्चात्य और भारतीय पुरातत्वविदों के अनुसार भी सिन्धुसभ्यता के नगरों का अन्तिम स्तर ३५०० और १५०० ई० पू० के बीच ही रहा होगा। अतः इन नगरों के सबसे ऊपरी स्तर की सत्ता स्वभावतः महाभारत के समकाल में ही रही होगी। अब क्योंकि इस सभ्यता के अवशेष सम्पूर्ण भारत में व्याप्त मिले हैं, अतः १७०० और १५०० ई० पू० के बीच कोई और भयङ्कर विनाशलीला घटित माननी होगी, जिससे यह सारी सभ्यता लगभग समकाल में ही नष्ट हुई होगी। आज की द्वारिका को देखकर ये पुरातत्वविद् कहने लगे थे कि महाभारत के समय की द्वारिका एक कपोल कल्पनामात्र है। किन्तु अब तो न केवल द्वारिका ही समुद्रगर्भ से निकलकर अपनी कहानी कहने लगी है, बल्कि अन्य स्थलों से भी अन्तिम या ऊपरी स्तर से नीचे के दो स्तरों तक के अस्तित्व प्रकाश में आ चुके हैं, जो उसी सभ्यता के प्राचीनतर अङ्ग हैं। इसी आधार पर पण्डित जी के मत से सहमति रखते हुए हम कह सकते हैं कि यह सभ्यता न केवल महाभारत के समकाल रही थी, बल्कि इसके पूर्ववर्ती स्तर इससे भी कुछ सहस्राब्दी पूर्व से चले आ रहे थे। आज से कई दशक पूर्व इतालवी पुरातत्वविदों ने अफगानिस्तान में इसी सभ्यता के प्राचीनतम या निम्न-तम स्तर की नागर और कृषिसभ्यता की तिथि ईस्वी पूर्व सातवीं सहस्राब्दी तक निश्चित की थी।

दयानन्द की इतिहास चेतना के मतवाले और भारतीय इतिहास और संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए कृतसंकल्प दीवाने न होते।

भारत और संसार

पुरातत्व की इन खुदाइयों से बहुत पहले पाश्चात्य विद्वानों के सामने ईसा की ही एक ऐसी तिथि बैठती थी, जिसे आगे या पीछे खिसका कर वे ईसापूर्व अथवा ईसोत्तर इतिहास की स्थापना करते थे। इसीलिए जब भाषाविज्ञान का विकास आरम्भ हुआ, तब मैक्समूलर जैसे महामनीषी कहे जाने वाले विद्वान् को भी भारतीय इतिहास में ईसापूर्व बुद्ध ही एक ऐसा व्यक्तित्व मिला, जिसे उन्होंने वैदिक युग के बाद की विभाजक रेखा के रूप में स्वीकार किया। उनके लिए भारतीय परम्परा और इतिहास का कोई महत्व नहीं था। उन्होंने निर्णय किया कि क्योंकि बुद्ध से पूर्व उपनिषद्, दर्शन और ब्राह्मणग्रन्थ बन चुके थे, अतः स्वाभाविक रूप में वेदों की रचना १२०० ईसापूर्व तक हो चुकी होगी। उनके बाद तो स्थिति यहां तक आई कि १२०० ईस्वी वेदों की रचना का आरम्भिक काल माना जाने लगा। ऐसे समय अचानक ही मिस्र, सिन्धुघाटी, बोगाजकुई, मेसापोटामिया और ईरान के पुरातत्वीय अवशेष एक के बाद एक करके सामने आने लगे। इन सबसे इतिहास एकदम ही पीछे की ओर धकेला जाने लगा। फिर प्रश्न उठा कि १२०० से पहले की इन खोजों का सम्बन्ध इन भारतीय अनुसन्धानों से कैसे बिठाया जाए? स्वाभाविक था कि या तो आर्यों को यहीं का मूल निवासी माना जाए या फिर उनसे पहले किसी अन्य समुन्नत सभ्यता का अस्तित्व स्वीकार किया जाये। क्योंकि साम्राज्यवादी लक्ष्य आर्यद्रविड संघर्ष के सिद्धान्त की स्वीकृति से ही सिद्ध हो सकते थे, अतः इस सभ्यता को द्रविड़ सभ्यता कह दिया गया। उस समय भी अनेक प्राच्य और भारतीय पुरातत्वविदों ने इसे आर्य और वैदिक सभ्यता ही स्वीकार किया था। तब चला विवाद किसी अटलांटिक सभ्यता के अस्तित्व की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का? प्लेटो ने इसका अस्तित्व १२,००० ईसापूर्व मिटी अत्यन्त समृद्ध सभ्यता के रूप से पहचाना था, किन्तु इतना प्राचीन समय उस समय के इतिहासज्ञ सभ्यता के विकास को देना नहीं चाहते थे। इसी पृष्ठभूमि पर आए पण्डित भगवद्दत्त। उन्होंने ऐतिहासिक मूल्याङ्कन में उस देश की परम्परा पुराणेतिहास और साहित्य की परीक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान देने का नारा लगाया।

इसीलिए उन्होंने न सिर्फ इस मन्वन्तर के आरम्भ की जलप्लावन की घटना को सत्य समझा, बल्कि मन्वन्तरों और युगों की गणना को भी उचित ठहराया। उनके इस प्रयास को बाद में उनकी परम्परा में आस्था और विश्वास रखनेवाले पं० चन्द्रकान्त बाली सरीखे विद्वानों ने आगे बढ़ाया। सत्य यह है कि यदि हम युगों की भारतीय कल्पना को सर्वथा उपेक्षित कर दें, तो विक्रम संवत् के आरम्भ जैसी महत्त्वपूर्ण विभाजक रेखा को उसी प्रकार सन्देह की दृष्टि से देखेंगे, जिस तरह से पाश्चात्य विद्वानों ने देखा और समझा। और एक बार इसे पूरी तरह समझने के बाद न तो हमें रामायण और महाभारत की घटनाओं के तिथि निश्चय में कोई कठिनाई आयेगी, और न ही श्रीकृष्ण की मृत्यु की तिथि निश्चित करने में।

यह सब इसलिए कहना पड़ा, क्योंकि एक बार महाभारत की सत्यता पर विश्वास कर लेने के बाद हमें उन सब बातों पर विश्वास करना सहज हो जायेगा, जिसे कभी स्वामी दयानन्द ने मनु आदि के साक्ष्य के आधार पर कहा था, और बाद में जिसे पं० भगवद्दत्त जैसे विद्वानों ने महाभारत के प्रसङ्ग में सिद्ध किया। इस धारणा के अनुसार महाभारत युद्ध में भाग लेने वाले राजा केवल भारतीय राज्यों से ही नहीं, बल्कि संसार भर के सुदूर देशों से भी अपनी सेनाओं के चुनींदा योद्धाओं के साथ आए थे। अफगानिस्तान और मध्य एशिया के राज्यों के साथ सम्बन्धों की चर्चा तो रामायण के समकाल त्रेतायुग में भी मिलती है। मनु ने जब यह कहा था—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन: ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा: ।।"

तब वे सर्वांशत: सत्य ही कथन कर रहे थे। इस दृष्टि से प्लेटो से बारह सहस्र वर्ष पहले अटलांटिक की अत्यन्त समुन्नत सभ्यता का एकाएक इस पृथ्वी से, उस महाद्वीप की सत्ता के साथ मिट जाना भी सत्य ही होना चाहिये। अमरीकी आदिवासी जो अपने प्राचीन पूर्वजों के दूसरे समृद्ध देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्धों की चर्चा करते हैं यह भी सत्य ही है। मय सभ्यता और मय दानवों और पारस के असुरों की बात केवल पण्डित भगवद्दत्त ही नहीं करते। उसकी पुष्टि स्वयं सम्राट् अशोक के शिलालेखों से भी होती है और पाणिनि भी बताते हैं कि उनसे भी कई पीढ़ी पूर्व से यवन इस देश में बसे थे, जिनकी पत्नियों की अलग पहचान के लिए उन्हें भी शिवानी, रुद्राणी और भवानी आदि पत्नीवाचक शब्दों की भांति 'यवनानी' शब्द के प्रचलन और उसके औचित्य की आवश्यकता थी। ईराक और उससे परवर्ती प्रदेशों से परिचय तो कालिदास के समय तक भी था।

उपसंहार—

अत: पण्डित भगवद्दत्त जब यह कहते हैं कि महाभारतयुद्ध में भाग लेने विश्वभर के योद्धा और राजा आए थे, तब वे कल्पना के घोड़े नहीं दौड़ाते। उस समय वह एक सत्य का कथन कर रहे होते-हैं। निश्चय ही हमारे इतिहासपुराण सम्बन्धी ग्रन्थों में जो विश्वभर के विविध भूखण्डों और देशों के नाम आए हैं, और पतञ्जलि जैसे मान्य विद्वान् भी जिस 'सप्तद्वीपा वसुमती' की चर्चा करते हैं, वह सब एक सत्य का वर्णन है, न कि कपोलकल्पना। अत: अब हमें यह कहना त्याग देना चाहिए कि भारत का अतीत अन्धकारमय था। सच तो यह है कि हम न केवल एक समुन्नत सभ्यता और प्राचीनतम इतिहास और संस्कृति के उत्तरधिकारी हैं, बल्कि हमें यह उद्घोष भी बड़े जोर शोर से करना चाहिये कि उस प्राचीन संसार में हमारे सम्बन्ध उस समय की समस्त समुन्नत सभ्यताओं के साथ थे। भले ही यूरोपीय विद्वान् अपने प्राचीन इतिहास को ईसा से बहुत पूर्व ले जाना न चाहें, परन्तु हमें उन्हें यह जता देना चाहिये कि उनके जाने-माने यूरोप से भी कहीं प्राचीनतर उसी भूखण्ड के अनेक समृद्ध राज्यों के साथ हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध था। यही नहीं, आज के चीन, रूस, जापान, दक्षिणपूर्व एशिया आदि के साथ भी हमारे घनिष्ठतम सम्बन्ध थे।

ऐसी स्वीकृति ही पण्डित भगवद्दत्त के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

★★★

पण्डित भगवद्दत्त जी

[ले०—ब्र० देवदत्त आर्य, पाणिनि महाविद्यालय, बहालगढ़]

महामोहं येन स्वमहयितबुध्या प्रतिहतम्,
कुपाश्चात्यैः पाशांहृढनिगडिताऽर्जन्तुविमलम् ।
प्रकर्षांर्षैस्तर्कैरनवरतयत्नैः परिहृतम्,
बहुज्ञं तं वन्दे नृवरभगवद्दत्तविबुधम् ॥

जिन्होंने आजीवन पवित्र सारस्वत यज्ञ में अपनी विमल प्रज्ञारूपी हवि से, सत्यरूपी ऋचाओं से, पाश्चात्य पाशविक गाढ-अज्ञान ध्वान्त-प्रच्छन्न-आवृत आवरण को उच्छिन्न कर दिया, ऐसे सरस्वतीनन्दन भगवत्प्रदत्त भगवद्दत्त जी को शत्-शत् प्रणाम ।

धर्मान्धविधर्मी अथवा साम्राज्यवादी निर्दयी के हाथों देश, जाति, धर्म और संस्कृति के लिये तीक्ष्ण तलवार से अथवा जलती हुई अग्नि में क्षणभर में मरना तो सरल है, किन्तु किसी उद्देश्य के लिये तिल-तिल कर प्राणोत्सर्ग करना बहुत कठिन है, और इससे भी अपनी प्राचीन गौरवपूर्ण अस्मिता को भूली हुई, अज्ञान के गहन गर्त में पड़ी हुई, दारिद्रय से पीड़ित हा-हाकार करती हुई, भूखी-प्यासी अज्ञानी जनता को, परम्परा से विच्छिन्न दुर्लभ शास्त्रों के अर्थों की सङ्गति लगाकर और पूर्वाग्रह से दूषित धार्मिक और साम्राज्यवादी राजनैतिक विचारों से प्रेरित पाश्चात्य मृगमरीचिका तुल्य भ्रान्त विचारों का पर्दाफाश करते हुये अहर्निश सत्य का परिचय कराना महाकष्टकर है। ऐसे कार्य को पण्डित जी जैसे विरले महापुरुष ही कर सकते हैं क्योंकि "परोपकाराय सतां विभूतयः"।

यदि कोई कहे कि, पण्डित भगवद्दत्त जी की जीवनी क्या है तो मैं किसी कवि के शब्दों में इतना ही निवेदन करना चाहूंगा—

कर्म ही पथ है नहीं कोरा विमर्शन है, चमकता कब स्वर्ण यदि होता न घर्षण है।
निरन्तर चलना न मुड़कर देखना पीछे, दिव्य जीवन का यही संक्षिप्त दर्शन है ॥

पण्डितजी की लेखन शैली :—पण्डित जी ने अपने अनुसन्धानपूर्ण लेख वा पुस्तकें अत्यन्त अकाट्य प्रमाणों से एवं भावनाओं से ओतप्रोत ओजस्वी भाषा में लिखे हैं। उनकी पुस्तकें पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि, मानो साक्षात् पण्डितजी समक्ष बैठे हों और अपने वेदनापूर्ण हृदयोद्गार सुना रहे हों। उनके द्वारा विरचित साहित्य का यथार्थ मूल्याङ्कन उच्चकोटि के विद्वान् ही कर सकते हैं क्योंकि "विद्वान् एव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्"।

एक सजग प्रहरी—किसी भी जाति को परतन्त्र अथवा उस जाति के लोगों का धर्मपरिवर्तन करना हो तो सर्वप्रथम उस जाति के गरिमापूर्ण इतिहास, सभ्यता और परम्पराओं का समूल नाश करना पड़ता है। इसी अत्यन्त घृणित कार्य को पाश्चात्यों ने अपनी साम्राज्यवादी भूख मिटाने के लिए आरम्भ किया था। उसका पर्दाफाश यद्यपि महर्षि दयानन्द ने संक्षिप्त रूप से अपने ग्रन्थों में किया था, किन्तु उनकी तथाकथित वैज्ञानिकता और संस्कृत विद्वत्ता जो कलुषित मानस से ग्रस्त थी उसका विस्तार से चित्रण पण्डित जी ने अपनी अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकों में कर

दिया है और साथ ही साथ उनके कुटिलतापूर्ण मिथ्या सिद्धान्तों का खण्डन तथा आर्ष सत्य सिद्धान्तों का मण्डन, नूतन और पुरातन प्रमाणों से किया है। मेरा विचार ऐसा है कि पाश्चात्यों के किसी प्राचीन वैदिक साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़ने से पूर्व किसी भी पाठक अथवा अनुसन्धाता को एक बार पण्डित जी के सारे ग्रन्थों का अनुशीलन अवश्य कर लेना चाहिये, जिससे कि तथा-कथित वैज्ञानिक कहलाने वाले पाश्चात्य भ्रान्त मोहावर्तों से बचा जा सके ।

अस्तित्व अर्थात् विचार एवं पण्डितजी की सूक्ष्म और दूरदृष्टि—

मनुष्य के सारे व्यवहारों का मूलाधार उसमें स्थित संस्कार, संस्कारों का मूल मनुष्य को प्रदत्त विचार (ज्ञान) और ज्ञान का प्रथम उद्‌गम स्रोत वेद हैं। मनुष्य को अच्छे विचार प्रदान करने से श्रेष्ठ संस्कार, और मिथ्या तथा बुरे विचार प्रदान करने से बुरे संस्कार बनते हैं। इसी के कारण सम्पूर्ण विश्व में अच्छे संस्कारों के आश्रय से, उत्तम कल्याणकारी कार्य करने से शान्ति, धार्मिकता, सौख्य और परस्पर भ्रातृभाव होता है, इसके विपरीत बुरे संस्कारों के आश्रय से, बुरे कार्य करने से, अशान्ति, दुःख, अधार्मिकता और परस्पर शत्रुता बढ़कर विनाश हो जाता है। क्योंकि संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो जन्म से माता-पिता एवं गुरुजनों के द्वारा प्रदत्त विचारों के अनुरूप संस्कारों के आश्रय से ही जीवन के किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है। यदि संस्कार श्रेष्ठ हों तो कल्याण से परमकल्याणकारी कार्य कर सकता है और बुरे संस्कार हों तो उसी के वशीभूत होकर घोर से घोरतम विनाशकारी कार्य भी कर सकता है किन्तु अन्य पशु अपने जन्म की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार ही चलते हैं इसलिये न वे अपना अथवा अन्यों का बुद्धिपूर्वक उत्थान कर सकते हैं और न ही विनाश। इसलिये ऋषियों ने मानवमात्र के हित के लिये एक सुन्दर वैदिक जीवन पद्धति और सामाजिक व्यवस्था बनाई थी, जिसमें मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये जीवन के अमृततुल्य फल अभ्युदय और निश्श्रेयस् को प्राप्तकर कृतार्थ हो जाता था। किन्तु काल चक्र के तीव्र प्रवाह में अनेकानेक मत सम्प्रदाय उत्पन्न हुये और अपने मूल उद्‌गम स्रोत को भूलकर अपने-अपने सम्प्रदाय के संकीर्ण विचार सीमाओं में सीमित हुए तथा इसी को यथार्थ समझकर इसकी रक्षा के लिए कट्टरता को अपनाया। इसी धार्मिक कट्टरता से प्रभावित होकर जब ईसाई विद्वान् सर्व प्राचीन वैदिक संस्कृति और सभ्यता को नीचा दिखा कर अपने ईसाई धर्म को श्रेष्ठ जताने लगे तब महर्षि दयानन्द ने अपने कार्य की अल्पावधि में सूत्ररूप में ऐसे अनेक विषयों पर प्रकाश डाला। पण्डित जी ने उन में से कुछ विषयों को कार्य रूप में परिणत कर दिया। जो जाति अपने पूर्वजों के इतिहास, धर्म, संस्कृति और परम्पराओं को भूल जाती है उसे नष्ट होने अथवा परतन्त्र होने में किञ्चिन्मात्र भी विलम्ब नहीं होता। वैदिक संस्कृति का अस्तित्व मात्र श्रेष्ठ विचारों पर अवस्थित है।

विचारों से संस्कार और संस्कार से व्यवहार (आचार) और वही सभ्यता में परिनिष्ठित होता है। यदि हमारे विचारों को परिवर्तित किया जाय तो हम नाम से भले ही आर्य रहेंगे किन्तु अपनी संस्कृति, परम्परा और अस्मिता को खो देंगे तब विशाल समुद्र में दिक्सूची हीन नौका के तुल्य अपनी दीनावस्था होगी। इस सूक्ष्म बात को पण्डितजी की प्रत्युत्पन्नमति ने तुरन्त ग्रहण कर लिया। अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उन्होंने गुप्तरूप से भारतीयों को बौद्धिकता से अन्धे बनाने के लिये चल रहे

षड्यन्त्रों को जान लिया, साथ ही साथ भविष्य में होनेवाले इसके दूरगामी दुष्परिणामों का पूर्वाभास उनकी दूरदर्शिता ने तुरन्त आंक लिया। इसलिये निरन्तर इतिहास और वैदिक ग्रन्थों का सूक्ष्म और गहन अध्ययन कर अनेक ग्रन्थों को रच डाला। काश ! ऐसे महापुरुष यदि भारत की पुण्यभूमि पर अवतरित नहीं होते तो न जाने हम काबुल, कन्धार के बाजारों में किन नीच राक्षसों के हाथों में गुलामों के रूप में दो-दो कौड़ी में बिक गये होते और अन्धकारमय एवं बर्बरतापूर्ण कुण्ठित जीवन जीते। धन्य है भारतभूमि ! तू यथार्थ में वीर प्रसविनी है। इतिहास साक्षी है कि चीन में कम्युनिस्ट शासन लाने से पूर्व सुनियोजित ढंग से साम्यवादी विचारों का खूब प्रचार किया गया। ईरान में कट्टर इस्लामी शासन आने से पूर्व इस्लामी कट्टरता का काफी प्रचार किया गया। पापीस्थान (पाकिस्तान) के बंटवारे के लिए जबरदस्त इस्लामी विचारों का प्रचार किया गया। जर्मनी में नाझिजम फैलाने के लिए गोबेल्स ने एक सिद्धान्त ही बनाया था कि—एक झूठ यदि सौ बार दोहराया जाय तो वह सत्य में परिवर्तित हो जाता है। और इस सिद्धान्त के साक्षात् उदाहरण ईसाई और मुस्लिम सम्प्रदाय हैं। आज पुनः भारत में ऐसे खूब षड्यन्त्र चल रहे हैं। यदि हम समय रहते जाग जायेंगे तो कल्याण है अन्यथा इतिहास हमें यही बताता है कि हमने इतिहास से कुछ नहीं सीखा।

पण्डित जी के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि अर्थात् हमारा उत्तरदायित्व—पण्डित जी अपनी अनुपम प्रतिभा से अपार धनसम्पदा अर्जित कर सुख से जीवन गुजार सकते थे, किन्तु उनकी पवित्र आत्मा से उस समय की परतन्त्रता की दारूण अवस्था और महान् वैदिक संस्कृति को जड़ समेत उच्चाटन के लिये चल रहे षड्यन्त्रों को देखा नहीं गया, परिणामतः उन्होंने इस गुरुतर अनुसन्धान और लेखन के भार को अपने ऊपर ले लिया और आजीवन निभाया। उन्होंने इस कण्टकाकीर्ण पथ को यथासामर्थ्य स्वच्छ कर हमारा मार्ग प्रशस्त किया। अति प्राचीन काल से जिस वेद और पवित्र ऋषियों के गम्भीर दीर्घकाल पर्यन्त सूक्ष्मता से परीक्षित, वैज्ञानिक, अनुभूत ज्ञान दीप को पुराकालिक, मध्यकालिक तपस्वी विद्वानों ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर देशस्थ नास्तिक एवं पाश्चात्य पिशाचों की प्रचण्ड आंधी से बचाया था। उसी ज्ञान प्रवाह को खण्डित करने के लिये अंग्रेजों के शठतापूर्ण यत्न को पण्डित जी ने अपने प्रबल प्रयत्न से विफल कर हमें जगाकर अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण किया है। तो हमारा भी कर्त्तव्य बनता है कि हम उनके अधूरे कार्य को पूर्ण करें। जैसे अंग्रेजों को अपनी अंग्रेजी भाषा सम्बन्धि उच्चारण और लेखन में भेद होने पर भी अपनी भाषा के स्वरूप को बनाये रखने के लिये तुच्छ और मिथ्या धारणाओं के प्रति अनुराग है, तो हमें अपनी प्राचीन गौरवपूर्ण इतिहास, सुसंस्कृत संस्कृति, परम्परा और सत्यज्ञान के प्रतिश्रद्धा और अभिमान क्यों नहीं करना चाहिये। मुझे मेरे पूज्य आचार्यों से यह विदित हुआ है, कि पण्डित जी के ग्रन्थ एवं अधूरे छोड़े हुये कार्य पर कम से कम दस विद्यार्थी पी० एच० डी० कर सकते है।

कोई भी आर्य सज्जन यदि प्राचीन वैदिक वाङ्मय पर पी. एच. डी. करना चाहते हैं तो उन्हें इसी दिशा में अनुसंधान करना चाहिये, यही पण्डित जी के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी, क्योंकि उस मनीषीवर की भावना यही रही होगी—

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समान धर्मा।
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥